This book is worth reading.

"Rajni Dirty."

'रजनी गन्धा'

दयाशंकर मिश्र

प्र
सुबुद्धिनाथ,
राजहंस प्रकाशन
सदर बाजार
दिल्ली।

● ● ●

लेखक
दयाशंकर मिश्र

● ● ●

● ● ●

मूल्य तीन रुपये ग्राठ ग्राने

● ● ●

मुद्रक :
अमरचन्द्र,
राजहंस प्रेस
सदर बाजार
दिल्ली।

A lovely book, but to understand very difficult.
Idiot Ashok Misri B.Sc Hindi

राजहंस

लेखक के अन्य उपन्यास

मरीचिका
समिधा
पाथेय
बुझते दीप
छोटी चाची
कोठी की बात
छोटी बहू
झीनी (प्रेस में)

This book is worth reading.

1959.

302

Oh Darling

This book

रात-सी नीरव व्यथा !

और—

तम-सी अगम जिसकी कहानी है !!

उन्हीं—

श्रीमती महादेवी वर्मा को

उड़ चल हारिल, लिये हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका—
ऊषा जाग उठी प्राची मे
कैसी बाट, भरोसा किनका !

—अज्ञेय

• •

O weary hearts ! O Slumbering eyes !
O drooping souls, whose destinies
Are fraught with fear and pain,
Ye shall be loved again.

—Longfellow

• •

एक करुण अभाव में चिरतृप्ति का संसार संचित
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शत-शत

—महादेवी वर्मा

...........!

वह प्राणदीप्ति!

जिसकी अवगति उसे हुई थी सौन्दर्य के झीने आवरण में लिपटे केशर और फल-फूलों के देश काश्मीर में—नदी, प्रपातों से ध्वनित होती उस मनोरम घाटी में—

वह अलौकिक अनुभूति!

स्तब्ध एकान्त में किसी के साथ बिताये वे क्षण! जिसमें उसे मिला था वह क्षणिक सुख (The pleasure that abideth for a moment) जो होता है प्रकारान्तर से—घनीभूत पीड़ा! चिरवेदना!!

'रजनी गन्धा' उसी अतिशय सुख-दुःख से परिव्याप्त चेतना का संयत प्रस्फुटन है!!

किन्तु—

उसे आप किसी भावुक प्राणी का व्यक्तिगत लेखा-जोखा या निरी निजी बात कहकर टाल नहीं सकेंगे। क्योंकि उसमें आप पायेंगे मानवीय अनुभूति की ऐसी तीव्रता—

जो उपजती है—गाहरी यातना में!

और पनपती है—घृणा से कुचले, दुःख दैन्य भरे जीवन में!

फिर फलित होती है—घोर मारक जिज्ञासा-प्रतिहिंसा-प्रतिशोध में!!

ऐसा कहते समय मुझे मानना पड़ेगा कि अपनी ही रचना के बारे में ऐसी बात कहने का अधिकार मुझे नहीं है। क्योंकि उसमें होती है—

—कृतित्व के अभिमान की अन्विति!

किन्तु वैसा अभिमान मुझ में नहीं है। इसी निराभिमानता का बल पाकर उससे भी आगे बढ़कर में दूसरा दावा पेश करूंगा—

—रजनी गन्धा की सर्वजनीनता का!

इसलिए कि—

'रजनी गन्धा' की नारी 'साधना' और पुरुष 'नितिन'—सर्वकालीन, सर्वदेशीय नारी-पुरुष हैं! उनमें पति-पत्नि का सम्बन्ध नहीं है। वे खड़े हैं नर-नारी का ऐसा सनातन सम्बन्ध लेकर, जिसमें हम पाते हैं—

नारी-हृदय का आलोड़न और पुरुष के 'अहं' को निवारण होते हुये—उनका आकर्षण-निकर्षण, घृणा-प्रेम और फिर उनमें जागती ऐसी गतिशीलता—

जो उन्हें गिराती नहीं, उठाती है। उनके मन की क्षुद्रताएँ एक विशालतर अस्तित्व एवं वृहत्तर व्यक्तित्व के लिए छटपटा उठती हैं।

उनमें आप पायेंगे—

मानवीय आत्माओं का अन्तर्द्वन्द्व और ऐसा मन्थन—

—जो सजग, सप्राण एवं संवेदनशील मानव के भाव जगत में रह-रहकर उठता है चक्रवात—अन्धड़ की भाँति! कभी घुमड़ता है घने काले बादलों जैसा! कभी आंखों की कोर से झर पड़ता है आंसुओं की अभिधा लेकर! कभी तूलिका और लेखनी का सहारा पाकर फूटता है

—कला और साहित्य में मूर्तिमान होकर!

साहित्य की परम्परा—माँ भारती के मंदिर में—रजनी गन्धा के इस फूल को वे मंदिर के पुजारी या मठाधीश कहाँ कैसा स्थान देंगे सो में नहीं जानता। न उस ओर मेरी दृष्टि है और नाही उस दिशा में जिज्ञासा ही!

किन्तु—

यह कहने का लोभ में संवरण न कर सकूंगा कि रजनी गन्धा लिख जाने के बाद में इसे कई बार पढ़ गया हूँ। पढ़ते समय मुझे टी० एस० इलियट के प्रख्यात निबन्ध 'ट्रेडीशन एण्ड इनडिविजुअल टेलेन्ट' (Tradition and Individual Talent) में व्यक्त यह मन्तव्य रह-रहकर याद आता रहा है कि—

"काव्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है, वरन व्यक्तित्व से पलायन है।"

कला की उक्त ऊँचाई तक पहुँचने का दावा मैं नहीं करता और लिखते समय नितान्त objective हो सकने का दम्भ भी मैं न करूँगा; किन्तु यह अवश्य कहूँगा कि जिस मनोदशा में 'रजनी गन्धा' में लिख गया हूँ. उसे भूल नहीं पाता।

मुझे अपनी उस मानस-प्रक्रिया का परिज्ञान है जिसमें 'रजनी गंधा' लिखी गई थी। मैं जानता हूँ कि मेरी अतृप्त कामनाओं के रंगीन स्वप्न मेरी रचना में कहाँ-कहाँ यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। अवचेतन में अवस्थित मेरे सपने! कुछ पूरे—कुछ अधूरे—उमड़ घुमड़ कर नये पात्रों के रूप में लिखते समय मेरी चेतना पर छा जाते थे फिर शब्दों में गुंथकर कैसे चित्रित हो उठते थे और मैं मोहाच्छन्न तन्द्रिल-सा उन पात्रों के पीछे चल पड़ता था या चलना पड़ जाता था।

मन का उक्त विश्लेषण करके भी मैं कहूँगा कि जिन क्षणों में सुख-दुःख की अतिशयता का जीवन-रस लेकर 'रजनी गन्धा' का यह फूल मेरे अन्तस्तल की वाड़ी में उद्भूत हो उठा था, उन क्षणों को 'जीवन के दैवी क्षण' कहकर पुकारने में मुझे तनिक भी हिचक न होगी।

मेरे चिर-सहचर मनोवेग और उनकी अनगिनत संवेदनाएँ अनजाने ही उन क्षणों में गन्ध—मधु—पराग का रूप लेकर कैसे इस 'रजनी गन्धा' के फूल में अन्तरनिहित हो उठी थीं, उसका मेरे मन में क्रम-गत इतिहास है। साथ ही कार्य-कारण की उस शृङ्खला को भी मैं भली-भाँति जानता हूँ। क्योंकि 'रजनी गन्धा' लिखते समय उसके पात्र

'नितिन' और मुझमें बैठे 'नितिन' में भेद करना कभी-कभी मेरे लिए अति कठिन हो जाता था।

इसीलिए—इसी बात को लेकर—मैं अपने समूचे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि—

चाहे किसी नैतिक छिद्रान्वेषी को 'रजनी गन्धा' में अश्लीलता की दुर्गन्ध ही आये और 'राजनीति' के 'वादों' के विकृत हुये मस्तिष्क को मेरा 'रजनी गन्धा' का यह फूल 'काला धब्बा' सा ही प्रतीत हो, किन्तु—

व्यक्तिगत होकर भी मेरी यह निरपेक्ष धारणा है कि 'रजनी गन्धा' किसी भी विदग्ध संवेदनशील मानव के मर्म को अवश्य ही छू सकेगी।

इसी 'आत्मसन्तोष' या कोई इसे 'कृतित्व का अभिमान' भी कह ले तो उसी के साथ 'रजनी गन्धा' को आपके हाथों में सौंपकर मैं अलग हट जाता हूँ—मन में उस प्रकार का भाव लिये—

जैसा होता है उस शिशु के मन में, जो असीम सागर के किनारे गीली माटी का नन्हा-सा घरौंदा बनाकर चला आता है—बिना इसकी चिन्ता किये कि उसके घरौंदे को, जिसके निर्माण-काल में उमड़ रही थी सृजन की अदम्य कामना, जिसे उसने कितने मनोयोग से बनाया था, उसी को कोई जाने-अनजाने ही पैरों तले रौंद डालेगा या सागर की स्नेहसिक्त लहरें उसे अपनी बाहों में समेट लेंगी।

लेखक

निर्तिन •

• साधना

१

डल लेक में खड़े उस हाउसबोट की खिड़की से, उसने सुना मीरा का गीत। किसी नारी का उड़ता-सा कांपता कण्ठ-स्वर।

"हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दर्द न जाने कोय।"

उस कण्ठ-स्वर में उसने सुना बेला के खिंचे स्वर-सा मर्मभेदी चीत्कार! बरसाती अँधियारी में दूर निर्जन पहाड़ी से आती किसी विरहिणी की व्यथा भरी पुकार!!

उसने अपने विगत जीवन में जाने कितने कोमल कण्ठों से निकले उन्मादकारी गीत सुने थे किन्तु वह कंठ-स्वर—किसी प्रेम दिवानी का वह दर्द-भरा गीत सुनकर, उसमें कुछ ऐसा जाग उठा जो इससे पूर्व कभी न जागा था।

उसे लगा जैसे किसी के कंठ से निकले वे कम्पित स्वर किसी समुद्री पक्षी की भाँति अपने फेनिल पंखों में लपेट उस कलकल निनादिनी की ओर उसे उड़ाये लिये जा रहे हैं, जो उसके हाउस-बोट से थोड़ी-दूर पर कहीं अपने शिकारे में बैठी गा रही थी।

जीवन में कभी-कभी ऐसे क्षण भी आते हैं जो सदा-सदा के लिये अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं, जिसकी मधुर-स्मृति मानव के समस्त जीवन में परिव्याप्त-सी हो उठती है।

नितिन बाबू के जीवन में भी वे क्षण ठीक उसी प्रकार आये। वह काश्मीर की शान्त नीरव 'डल झील' में एक हाउसबोट की खिड़की पर ठोड़ी टके चुपचाप उस पानी में झिलमिल करते तारों की प्रतिच्छाया देख रहे थे।

देखते-देखते सोचने लगे—पानी के ये सितारे ! अपने में कितना सौन्दर्य समेटे आकाश से उतरकर, यहाँ चारों ओर पहाड़ियों से घिरी इस झील की गोद में आ बैठे हैं। कितने मनोरम थे वे आकाश-दीप ! लगा जैसे एक ऐसे नये सत्य का परिज्ञान उन्हें हुआ है, जैसा इससे पूर्व इस इतने बड़े संसार में कभी किसी को नहीं हुआ होगा।

नितिन बाबू जानते थे कि वे तारे नहीं हैं। वह थी तारों की प्रतिच्छाया ! मात्र भ्रान्ति !! किन्तु पानी के उन सितारों में वे ऐसे डूब गये कि उन्हें लगा जैसे वे सितारे जड़ न होकर हैं सजीव ! सप्राण ! जैसे वे हिलडुलकर कुछ गा रहे हैं।

उन सितारों में एक ऐसी थिरकन थी जिसे देखते-देखते मन किसी भी प्रकार अघाता न था।

कितने दिनों से नितिन बाबू काश्मीर के उस हाउसबोट में ठहरे थे। उनके एकाकी जीवन के सहारे अब तक रहे हैं—कविता, कहानी, गीत और आकाश में घटता-बढ़ता चाँद ! झिलमिल करते सितारे ! नदी, झील और पर्वत प्रपात !!

आज उन्हें लग रहा था जैसे पानी पर उतराते उन सितारों को पहिली बार ही देखा है—तारों की उस छलना में वे ऐसे खो गये कि उन्हें लगा जैसे चारों ओर अचल, शान्त नीरवता है ! मानो प्रकृति का अणु-अणु अपना अस्तित्व खोकर उस अखण्ड शून्यता में घुल-मिल गया है और जैसे शेष हैं—पानी में बहाये गये वे सान्ध्य-दीप, झील की गोदी में बिखरे मणि-माणिक्य में जगमग करते वे सितारे ! और उनका द्रष्टा मात्र नितिन ! नितिन जो मैं हूँ—इस कहानी का स्रष्टा ! नितिन—मैं !!

और तभी उसने सुना वह काँपता उन्मादकारी कण्ठ-स्वर—

'हे री मैं तो प्रेम दिवानी,
मेरा दर्द न जाने कोय!'

लगा जैसे अन्दर ही अन्दर कोई कराह उठा है। कहीं कुछ दुख उठा है। वह उस खिड़की से सिर निकालकर उस दिशा की ओर देखने लगा, जिधर से रात की उस अंधियारी में धीरे-धीरे मन्थर गति से एक शिकारा पानी की लहरों पर बिछलता-सा चला आ रहा था। शिकारे के सिरे पर रक्खी लालटेन के धुन्धले प्रकाश में माँझी की पतवार कभी-कभी चमक उठती थी।

वह कंठ-स्वर निकट ! अति निकट !! इतना निकट आगया कि ऊँची तान लेने के बाद उसकी गहरी निश्वास भी वह सहज ही में सुन पा रहा था।

उसका वह शिकारा हाउसबोट से सटता-सा बहा जा रहा था। हाउसबोट के बिखरे प्रकाश में कुछ क्षणों के लिये वह शिकारा आलोकित हो उठा और रात के धुन्ध भरे उस आलोक में उसने देखा-शिकारा में बैठी उस सुन्दरी को, उस रजनी गन्धा को ! जिसके गीत सुनकर वह अपना सब कुछ भूल बैठा था।

उसने सबसे पूर्व जो देखा वे थीं उसकी अर्ध उन्मीलित आंखें ! उसके काले लम्बे केश जो कंधों पर छा गये थे। कान के पास उन बिखरे बालों में सफेद कश्मीरी फूलों का गुच्छा हिल-डुल रहा था। उसके श्वेत परिधान पर काले लहराते बालों में वे श्वेत फूल ! और वह गाये जा रही थी—

ना मैं जानू आरती बन्दन, ना पूजा की रीति।
है अनजानी दरस दिवानी, मेरी पागल प्रीति॥
लिये री मैंने दो नयना के दीपक आज सँजोय····
हेरी मैं तो·······

तभी वह शिकारा हाउसबोट के उस धुँधले प्रकाश से निकल कर अंधकार में खो गया—गीत बन्द हो गया। रात आधी बीत

चुकी थी—उस गीत को सुनकर मुझे लगा जैसे मैं वह पक्षी हूँ, जो चांद की रजत किरणों के सहारे चाँद को छू आने के लिये उड़ा जा रहा था और जैसे अचानक किसी ने उसके उस सहारे को छीन लिया है। अब वह पंख फड़फड़ाता नीचे की ओर गिरता आ रहा है। जैसे अपनी उस उड़ान को पा लेने के लिये बार-बार छटपटा उठता है किन्तु पा नहीं पाता। वह गिरता है—गिरा जा रहा है, रात की उस प्रकाशहीन अँधियारी में—बेबस, निरीह ! अतिदयनीय !!

नितिन श्रीनगर आया था इसलिये कि प्रकृति की गोद में बैठकर अपना अधूरा उपन्यास पूरा करेगा। आज उसे अपने उपन्यास का अन्तिम परिच्छेद समाप्त करना था। वह उसकी समाप्ति के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों की कल्पला का सृजन करता रहा किन्तु जैसा चमत्कार अन्त में वह चाहता था वैसा कुछ भी सूझ न पड़ता था।

साँझ होते ही जाने क्यों उसका मन विरस-सा हो उठा। फिर निकले तारे और मन पानी के उन सितारों में डूब गया। तभी सुन पड़ा वह काँपता उड़ता मधुर स्वर ! और फिर देखा था उस भुवनमोहिनी महाश्वेता को !!

बैठा-बैठा आकाश गंगा की ओर निहारता सोचने लगा—वह जो कुछ क्षणों पूर्व इधर से अपने उन्मादकारी गीत की तानें बिखेरती चली गई हैं सो क्या जानती होंगी कि अनजाने ही उन्हों ने किसी के हृदय को इस प्रकार भुलसा डाला है, किसी के मन में ऐसा भाव जगा दिया है, जो उसे रात भर आँखों के पलक तक झपकने न देगा। आज उसे सारी रात हाउसबोट की इस एकान्त खिड़की पर ठोड़ी टिकाये ही बितानी पड़ेगी।

आकाश गंगा को देखते-देखते सोचने लगा—इस नीरव निशीथ में जब उस नील निलय को अंधकार ने लील लिया है तब

भी वह आकाश गंगा का जगमगाता प्रशस्त मार्ग धरती तल पर बैठे किसी भी निराश प्राणी के मन में आशा का भाव उद्भूत कर सकता है किन्तु उस नितिन को किसी ओर से ऐसा कुछ भी तो नहीं मिल रहा था जिससे अपने बीहड़ जीवन के उन अभागे क्षणों में, हृदय के उस उठते हाहाकार को—उसके चारों ओर व्याप्त उस गहरी शून्यता को कोई भर सके।

व्यवहार, तर्क और ज्ञान की सीमाओं में बँधा कौन प्राणी यह विश्वास कर सकेगा कि विना किसी पूर्व परिचय के, किसी के द्वारा गाया गया मात्र गीत सुनकर वह इस दारुण व्यथा की आग में झुलस उठेगा? उस रजनी गन्धा की गन्ध के लिये तरस उठेगा?

चाहे कोई विश्वास करे या न करे किन्तु मैं जानता हूँ कि यह था सत्य! अविश्वसनीय सत्य!! मैं जानता हूँ इसलिये कि नितिन मेरे जीवन में घुल मिल गया है, इसलिये कि मैं ही हूँ वह नितिन! जिसकी यह कहानी है।

आकाश की ओर देखते-देखते उसकी आँखें थक गईं। शुक्र तारा उदित हो चुका था और आकाश के दीप बुझ चुके थे। आकाश में एकमात्र टिम-टिमाते उस शुक्र तारे से अपने एकाकी जीवन का भिन्न-भिन्न प्रकार से मेल मिलाते वह सामने की पहाड़ी पर झुकते मेघ खण्डों को देखने लगा। धीरे-धीरे वे मेघ-खण्ड समस्त आकाश में छा गये। वे पहाड़ियाँ मेघ-पुंज के पारावार में डूब गईं।

सोचने लगा—कौन बैठा है उस अन्तरिक्ष में जिसके संकेत पर आकाशगामी ये मेघखण्ड धरा ओर बरबस झुक आते हैं। इन पहाड़ियों से लिपट चिपट कर उन्हें अपनी बाहों में समेटते हैं फिर स्नेहसिक्त करके विदाई की दारुण व्यथा देकर चले जाते हैं। ये पहाड़ियाँ! अपने उस प्रेयस की प्रतीक्षा करती सदा ऊपर की ओर मुंह उठाये निश्चल, निस्तब्ध-सी खड़ी रहती हैं।

तभी मेरे अन्तस्तल में कहीं कुछ कसक उठा।
उस मीठी कसक से अभिभूत-सा मैं गुन-गुना उठा—
याद किसी को रे क्यों आती?
आकुल घन क्यों उमड़ घुमड़ कर,
घटा ओर बरबस झुक आता ?
चन्द्र-किरण से मिलने को क्यों,
ज्वार उदधि में है हहराता ?
मायाविन यह प्रकृति-नटी क्यों—
उर में मीठे भाव जगाती ?
याद किसी की..............?

पता नहीं कब उसके थके पलक झपक गये और उसने देखा वही शिकारा धीरे-धीरे उसकी ओर सरकता आ रहा है। वह महाश्वेता-सी तन्वांगी शिकारा से उतरी और उसके अति निकट आ बैठी। वह अपलक नयनों से उसकी ओर निहार रहा था। पता नहीं कैसे हाउसबोट के वे विद्युत बल्ब बुझ गये और वह हाउसबोट दुग्ध फेनिल चाँदनी में चमचमा उठा।

उस कोमलांगी ने अपनी अति शीतल अँगुलियों में मेरी हथेली थाम कर छत पर चलने के लिये संकेत किया।

हम दोनों कुछ देर आकाश के घन-खण्डों में लुकते छिपते चाँद को देखते रहे। तभी वह माया-सी मनोरम भुवनमोहिनी ने मुझे अपने ऊपर झुका लिया। मेरा सिर उसकी गोद में था। मैं निर्निमेष-सा उसे निहार रहा था। वह अपनी स्नेह सिक्त अंगुलियां रोम-रोम को सिहराती मेरे जलते माथे पर धीरे-धीरे ऐसे फेर रही थी जैसे रेशमी रूमाल की सिमटन मिटा रही हो।

जीवन में जाने कितनी बार किस-किसकी गोद में मुँह छिपाकर रोया हूँ किन्तु मेरे जीवन में बिखरे इस मरुस्थल को कभी कोई आर्द्र भी न कर सका और पहिली बार मुझे लगा

जैसे उन थोड़े से क्षणों में ही अन्तर में धधकते सहस्रों ज्वालामुखी शान्त हो गये हैं। वह तप्त मरुस्थल किसी के उमड़ते स्नेह सागर में सराबोर हो चुका है।

तभी मैंने देखा कि उसकी वह विगलित करुणा आँसू बन-बन कर उमड़ चली है। मुझे अपनी श्वेत बाहों में समेटकर कानों में मधुस्नेह उड़ेलती-सी वह अस्फुट स्वर में बोली—

"चलो! मैं तुम्हें दुख दैन्य से भरे मानव के इस धरती-तल से दूर! बहुत दूर ऐसे लोक में ले चलूँगी जहां चारों ओर बिखरा होगा अलौकिक सौन्दर्य, जो रूपसियों के हास-विलास से प्रति क्षण, प्रति पल मुखरित रहता है।" कहते-कहते उसने अपने श्वेत पंख पसारे और आकाश की ओर मुझे उड़ा ले चली। उसके केशों की भीनी-भीनी गन्ध से मेरा रोम-रोम सिहर उठा। धीरे-धीरे एक ऐसी तन्द्रा-सी छाने लगी जिसका इससे पूर्व उसने कभी अनुभव तक न किया था।

उस तन्द्रिल अवस्था में उस मायाविन ने अपनी बाहों से एक हलके झटके के साथ मुझे नीचे की ओर फेंक दिया। एक चीख के साथ मेरी आंख खुल गई। मैं हाउसबोट की उस कुर्सी से नीचे फर्श पर गिर गया था।

माँझी ने घबराते हुए कहा—

"क्या हुआ साब?"

मैंने भर्राये कण्ठ से कहा—"ऐसा हुआ है माँझी! जो भगवान् करे किसी के साथ न हो।"

श्रीनगर का बूढ़ा माँझी मुँह फाड़े मेरी ओर देख रहा था। मैं वहां से उठकर अपने बिछौने पर आ पड़ा।

माँझी ने शंकित स्वर में पूछा—

"साब! आज किधर चलना होगा?"

"कहीं भी नहीं, तुम जाओ माँझी।"

वह बूढ़ा माँझी शंकित आँखों से मुझे देखता-देखता चला गया और मैं हाउसबोट को उस छत को देखते-देखते सोचने लगा—कब होगी वह साँझ, फिर वे पानी के सितारे ! और क्या आज भी किसी का कम्पन भरा कण्ठ स्वर न सुन पड़ेगा ? क्या आज भी वे क्षण लौटेंगे नहीं जिनमें फिर लौट जाने के लिये एक एक पल युग की भाँति काटे जा रहा हूँ ?

दिन का वह सूनापन मुझे खाये जा रहा था। प्रतीक्षा की उन घड़ियों को किसी प्रकार बिता देने के लिये मैं सामने मेज़ पर पड़ी अस्त-व्यस्त पुस्तकों के पन्ने पलटने लगा—पन्ने उलटते-पलटते जाने किस कवि की कुछ पंक्तियाँ गुनगुनाने लगा—

कौन तुम मेरे हृदय में ?
एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शतशत,
पा लिया मैंने किसे इस—
वेदना के मधुर क्रय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

उन पुस्तकों के पन्ने उलटते-पलटते सोचने लगा—कैसा है यह मन और उसका निगूढ़ रहस्य ! जाने क्या क्या, कैसी-कैसी अतृप्त कामनायें छिपी रहती हैं उसके अन्तस्तल में ? जाने कब किस कवि की वे पंक्तियाँ पढ़ी थीं और आज अनजाने ही मैं उन्हें गुनगुना उठा था—

कौन तुम मेरे हृदय में ?

सोचने लगा—तो सभी भावुक व्यक्तियों में कोई अनजाने ही आ बैठता है ? तब क्या मेरे समान उनकी हृतंत्री के तार भी इसी प्रकार झंकृत होकर बोल उठते होंगे—

कौन तुम मेरे हृदय में ?

तभी मैंने ऑस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde) की एक मोटी

किताव, उठाई। अन्यमनस्क भाव से उलटते-पुलटते आँखें एक स्थल पर अटक गईं। मैं पढ़ने लगा—Poems in Prose (गद्यगीत) का एक अध्याय—

'The Artist' (कलाकार) उसका सार यूँ था कि किसी कलाकार ने The Pleasure that abideth for a moment (क्षणिक सुख) के भाव को लेकर मूर्ति बनानी चाही पर सारे विश्व में कहीं भी तांबा न मिला। तांबा था केवल उसी के द्वारा बनाई गई एक मूर्ति में, जिसके नीचे उसने लिखा था—The Sorrow that endureth for Ever (चिर दु:ख)।

और अन्त में लिखा था—

And he took the image he had fashioned, and set it in a great furnace and gave it to the fire.

And out of the bronze of the image of 'The sorrow that endureth for Ever' he fashioned an image of 'The Pleasure that abideth for a Moment' उसने 'क्षणिक सुख' के भाव को प्रदर्शित करने के लिये 'चिर दु:ख' वाली मूर्ति को आग की भट्टी में भस्म कर दिया।

पढ़ते-पढ़ते मुझे याद आई शरत् वावू के उपन्यास 'शेष प्रश्न' की। उसमें कमल ने भी ठीक इसी प्रकार क्षण भर के सुखमय जीवन को लम्बे दु:ख भरे जीवन से अधिक मूल्यवान माना था। तब मुझे लगा जैसे अपने विगत व्यथा भरे जीवन को मैं सुख के एक क्षण में वदलने के लिये आतुर हो उठा हूँ। किन्तु कहाँ है वैसा सुख? कैसे हो सकेगी उसकी प्राप्ति? और मुझे लगा जैसे जीवन का वह क्षण भर का सुख मिलेगा उस रजनी गन्धा के सान्निध्य में! उसके कंठ से निकले उस उन्मादकारी गीत में—

हे री मैं तो प्रेम दिवानी,
मेरा दर्द न जाने कोय।

तो क्या वह भी किसी के प्रेम में पागल हो उठी है ? क्या वह भी मेरे जीवन की इसी कथा को दुहरा रहीं थी—

मेरा दर्द न जाने कोय ?

फिर ? फिर मैं क्या करूँ ? और उन किताबों को एक ओर पटककर लम्बी-लम्बी उसाँसे छोड़ता उस विछौने पर पड़ा छटपटाने लगा।

सोचने लगा—कौन है यह रजनी गन्धा-सी कमनीय ? जो रोज़ रजनी की अँधियारी में फूलती है और अपने गीत की तानों को पराग की भाँति विखेरती चली जाती है। क्यों समा गई है उसकी यह गन्ध, मेरे रोम-रोम में ? रजनी गन्धा ! रात की रानी !!

२

वह उदासी लिये साँझ आई ! आकाश के वे धुँधले दीप झील के पानी पर हिलते-डुलते तिरने लगे ।

सैकिण्ड, मिनिट और घण्टे बीतते गये । मेज़ पर रक्खी टिक्-टिक् करती घड़ी ने रात के बारह बजा दिये किन्तु वह न आई ।

नितिन को लगा जैसे उसकी प्राण-शक्ति धीरे-धीरे लुप्त हुई जा रही है । उसकी मुट्ठियाँ बार-बार बँध-बँधकर खुल जाती थीं । उसे याद नहीं कि कितनी बार वह हाउसबोट की छत पर चढ़ा और उतरा । वह बन्दी बाघ की भाँति उस हाउसबोट में चक्कर काटे जा रहा था ।

तभी रोम-रोम में उन्माद जगाने वाला उस महाश्वेता का वही कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा । नितिन ने विक्षिप्त मानव की भाँति पुकारा—

"माँझी !"

बाहर एक कोने से उत्तर आया—"जी साब !"

"माँझी नाव तय्यार करो !"

"साब ! किधर चलना है ?"

"उस शिकारे की ओर जिधर से वह गाने का स्वर सुनाई पड़ रहा है । जल्दी करो माँझी !"

"अच्छा साब ।" कहकर वह हाउसबोट से बँधी नाव खोलने लगा ।

माँझी ने नाव हाउसबोट की सीढ़ियों के पास लगा दी ।

नितिन सावधानी से ठीक बीच में जा बैठा। नाव अर्धवृताकार-सा बनाती शिकारे के पीछे-पीछे बहने लगी।

आज उसके स्वर में वंशी जैसा आग्रह और अवशता थी। झील के पानी में हाथ डाले वह गाये जा रही थी—

मांग सिंदूर लपट बन जागे
लागी अगिन चहुँ ओर।
रूठ गई हाथों की मेंहदी
टूटी मन की डोर॥
मेरो मन मोहन आयो न सखी री
रो रो नैना खोय।
घायल की गति घायल जानें
की जिन लागी होय।
हे री मैं तो प्रेम दिवानी—
मेरा दरद न जाने कोय॥

इसी प्रकार छः दिन बीत गये। नितिन बाबू का अधूरा उपन्यास मेज़ पर पड़ा था। कई बार वे कलम उठाकर उसे समाप्त कर डालने के लिये बैठे। अपने समस्त मनोयोग से उन्होंने उपन्यास में बिखरी धाराओं को समेटने का प्रयत्न किया किन्तु इन पांच-छः दिनों में चार पंक्तियाँ भी न लिख पाये।

उपन्यास के महासागर में बहने वाला मन पहाड़ी झरने की लय बद्ध 'झर झर' में जा रमा था। कितने वर्षों बाद उनमें कविता फूट पड़ी थी। कहीं पढ़ा था—'आह ! से उपजा होगा गान'।

नितिन रात-रात बैठा गीत लिखता था। नहीं जानता कला की दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र में उन गीतों का कितना मूल्य था ; किन्तु उन गीतों में जैसी तन्मयता और प्रवाह था निश्चित रूप से अलौकिक एवम् श्लाघनीय कहा जा सकता था।

नितिन ने पिछले दिनों में कितने ही गीत लिखे थे। उसने उन्हें एक पीले रंग की कापी में लिखकर मेज़ पर रख दिया था।

वह उन गीतों का दिन में जाने कितनी बार परायण करता था। पढ़ते-पढ़ते कभी उसकी आँखें छलछला आती थीं। कभी एक उदासी भरी मुस्कान उसके ओठों पर बिखर जाती थी।

नितिन बाबू ने सातवीं रात नाव की पतवार अपने हाथों में लेकर कहा—

"माँझी ! आज नाव मैं चलाऊँगा। तुम बैठोगे वहाँ, उस कोने पर।"

वृढ़ा माँझी चुपचाप कोने पर बैठा झपकी लेने लगा। वह क्या जानता था कि आज ऐसा क्या होने जा रहा है सो उसके हाथों से नाव की पतवार लेकर बाबू ने स्वयं अपने हाथों में संभाली है।

पिछले छः दिनों से यही तो होता आ रहा था कि जैसे ही उस शिकारे में बैठी उस रूपसी का कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ता था वैसे ही नितिन की नाव उस शिकारे के पीछे जा पहुँचती थी और जैसे ही उसका वह शिकारा हाउसबोट के पास आता था वैसे ही वह नाव शिकारा का चक्कर काटकर शिकारे के आगे से दौड़ती हाउसबोट की सीढ़ियों से जा लगती थी।

आज सातवाँ दिन था। नितिन पतवार से पानी फेंकता नाव की छप्-छप् में कुछ सोचता-विचारता चला जा रहा था। धीरे-धीरे वह गीत वन्द हुआ। इधर विद्युतगति से नितिन की पतवार उठने गिरने लगी। अचानक नाव उस शिकारा से जा टकराई। वूढ़ा माँझी झील में गिरते-गिरते बचा। नाव टकराती-सी आगे बढ़ गई और उसी समय उस भुवनमोहिनी का कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा—

"यह लेते जाइये ! सुनिये ! देखिये !!"

नितिन बाबू कुछ भी न सुन सके। नाव तीर की भांति आगे बढ़ गई और शिकारी अपनी मन्थर-गति से धीरे-धीरे आगे बढ़ा जा रहा था। तभी उस कोमलांगी ने माँझी से लालटेन लेकर उस कापी को देखा जो कुछ देर पहिले उस नाव से शिकारे में आ पड़ी थी।

कापी के प्रथम पृष्ठ पर समर्पण गीत लिखा था। वह पढ़ने लगी—

उन्माद भरे गीतों को गा, जो प्राणों की बन गई तान।
उसके चरणों पर बिखराता, ये अपने आँसू भरे गान॥

उसने कापी के अगले पन्ने पलटे। तब उसकी समझ में आया कि जिन महाशय की नाव थोड़ी देर पहिले टकराती निकल गई थी, सो उस टक्कर का कुछ प्रयोजन भी था और उसी प्रयोजन को लेकर—'उसके चरणों पर अपने आँसू भरे गान' बिखराते वे महाशय आगे चले गये हैं।

उसने यह टिमटिमाती लालटेन माँझी को वापस दे दी और शिकारे को आगे बढ़ाने के लिये कहा। यह शिकारा जैसे ही उस हाउसबोट से खिसकता आगे बढ़ने लगा वैसे ही उस नारी का कोमल कण्ठ सुन पड़ा—

"ठहरो माँझी!"

शिकारा रुक गया फिर पता नहीं क्यों अर्धनिश्चय भरे स्वर में तुरन्त ही उसने कहा—"अच्छा! आगे बढ़ो।"

नितिन बाबू उस 'ठहरो माँझी!' और 'अच्छा! आगे बढ़ो' को साँस बन्द करके सुन पाये थे। शिकारा उस अँधियारे में खो गया और नितिन बाबू चुपचाप बिछौने पर जाकर लेट गये।

उस दिन नितिन बाबू न तो गीत ही लिख पाये और न उनकी आँखें ही झपक पाईं। वे निस्तब्ध, निष्प्राण से बिछौने पर लेटे रहे।

३

पिछले पाँच छः दिनों से उस हाउसबोट में जो अचानक अति व्यवस्था-सी हो उठी थी उस ओर आज उसका ध्यान गया था।

वह गौर वर्ण की बीस-बाईस वर्ष की कश्मीरी लड़की ओठों पर सहज स्वभाव से मृदु-हास बिखेरती कमरे में आई और मेज़ पर पड़ी पुस्तकों को करीने से मेज़ के एक कोने पर सजाने लगी। तभी नितिन ने पूछा—

"तुम माँझी की लड़की हो ?"

"जी !"

पिछले दिनों कहीं बाहर गई थी ?

"जी !"

"ससुराल ?"

"जी !" कहकर लजाती-सी बाहर चली गई। सारे प्रश्नों का 'जी' मात्र में उत्तर देने वाली उस लड़की को मैं देखता ही रह गया।

पास के कमरे को साफ़ करके उस कमरे में फिर आई। सिर झुकाये उस कमरे में इधर उधर बिखरी चीज़ें ठीक ठिकाने लगा कर बाहर निकल गई। बाहर जाते-जाते जिस मार्मिक ढँग से उसने नितिन को देखा सो उसे बहुत अच्छा लगा था।

लेटे-लेटे सोचने लगा—प्रकृति के सौन्दर्य से धनी, इस देश का मानव कितना दरिद्र है। दुःख-दैन्य के ताप में झुलसाती ये कलियां, विना फूले ही मुरझा जाती हैं। क्या था उन आँखों में ? सहज स्नेह ! सहानुभूति ! प्यार-प्रेम ! याचना ! क्या ? क्या ?

साँझ हो चुकी थी। आकाश में तारे टिमटिमा उठे थे हाउस-बोट की खिड़की के सामने हरी साड़ी पहिने वे पहाड़ियाँ मूक खड़ी दिख रही थीं।

लगा जैसे वह पहाड़ियाँ गुर्जर बालायें हैं जो ठोकर खा-खाकर गिर पड़ी हैं। मटकियों का दूध बिखर गया है। वह पहाड़ी नाला जो ऊपर से बहा आ रहा है, जैसे उसमें पानी न हो कर भरा है फेनिल दूध! कितना श्वेत कितना धवल था, वह दूर से दिखने वाला दुग्ध-रेख-सा पहाड़ी नाला!

सोचने लगा—तो क्या प्रकृति के अणु-अणु में व्याप्त है मात्र छलना! क्या इसीलिये शास्त्र में सृष्टि को 'माया' के नाम से पुकारा गया है?

यह जो चारों ओर प्रकृति का सौन्दर्य बिखरा है, जो दूर से दिखने पर कितना मनोरम दिखाई पड़ता है, वही निकट से कितना असुन्दर है। ये चाँदी-सी चमचमाती बर्फ की शिलायें! निकट जाने पर शरीर को तोड़कर देती हैं। उनकी चमक से आँखें अंधी हो उठती हैं। जाने कितने प्राणियों ने इनसे फिसल कर अपने हाथ पैर तोड़ लिये होंगे।

वह नाला! उछलता-उछलता गीत गाता-सा बहा जा रहा है। यदि कहीं कोई अभागा मानव उसमें जा पड़े तो अपने भीतर छिपाये पत्थरों से सिर तोड़कर हड्डी-हड्डी बिखेर देगा।

वे दुर्ग के हरे कँगूरे से पहाड़ी पेड़! जो अपने भीतर जाने कितने कीड़े-मकोड़ों को अपने तनों एवं पत्तियों में छिपाये हैं। जाने कितने बनैले रक्त के प्यासे जीव-जन्तुओं को अपनी जड़ों का सहारा दिये खड़े होंगे।

सोचते-सोचते मन खिन्न-सा हो उठा। तभी किसी कोमल कंठ से निकला स्वर सुना—

"बाबू हैं?"

"कौन ?" कहता मैं बिछौने से उठ खड़ा हुआ और खिड़की से झाँककर देखा। हाउसबोट से सटा एक शिकारा खड़ा था। उसमें बैठी थी वही भुवनमोहनी महाश्वेता ! रजनी गन्धा !!

खिड़की से झाँकते ही बोली—

"क्या मैं आ सकती हूँ ?"

मन ही मन मैं सिहर उठा। सोचने लगा—हे राम ! यह स्वप्न है या सत्य ? वे अन्दर आगई। शिकारे पर चुपचाप माँझी बैठा था। वे अकेली मेरे बिछौने के पास आ खड़ी हुई।

आते ही बोलीं—

"पहिचाना ?"

"जी ! बैठिये।"

बिस्तर के पास पड़ी एक कुर्सी पर बैठ गईं।

फिर ओठों पर ऐसी हँसी बिखेरती-सी मुझे देखने लगीं जैसे कह रही हों—'मैंने तुम्हारे अन्तस्थल में छिपा सब कुछ जान लिया है।"

लगा जैसे चोर की चोरी पकड़ गई है। कुछ लजाते हुए मैंने कहा—

"आज आप जल्दी आगईं ?"

"भक्त की टेर पर तो सुना है भगवान् भी धाये आते हैं सो मानव की पुकार पर मानव समय से पूर्व आजाये तो आश्चर्य तो नहीं होना चाहिये।"

नितिन को उस बात का कोई भी जवाब न सूझ पड़ा। सूझता भी क्या ? कुछ पूछा तो गया नहीं था किन्तु उसके मुँह से निकला 'मानव की पुकार' बहुत सुन्दर लगा था।

मेरा सिर लाज के मारे झुका जा रहा था। सिर झुकाये सोचने लगा—हे भगवान् ! जाने क्या-क्या उस कापी में लिखा था। इन्होंने पढ़ा होगा। क्या-क्या सोचा होगा ? उसका आहत

पौरुष उसे धिक्कार उठा।

जाने कैसे मेरे मुँह से निकल गया—

"कल आवेश और पागलपन में जिस तरह मैंने वह कापी आप तक पहुँचाई थी उस अशिष्टता के लिये क्षमा न कर सकेंगी?"

"नितिन बाबू जिसे आप आवेश और पागलपन कहते हैं उसी को मैं मानवता की संज्ञा देती हूँ। ये जो ऊपर से संयम और शिष्टता की बातें करते हैं, उनके उस दम्भ को देखकर मैं जल-भुन उठती हूँ।"

सोचने लगा—मेरा नाम कैसे जान गई? तब ध्यान आया कापी के कोने पर मैंने अपना नाम लिखा था। याद आते ही वह बोला—

"क्या आप मानती हैं कि जीवन में संयम और शिष्टता का कोई स्थान ही नहीं है?"

"है, वहीं तक जहां तक वह निभाया जा सकता है! जितना मानव के वश की बात है और जब वह इस सीमा को तोड़कर आगे बढ़ने का साहस करता है, तभी उस मानव का मन विकृत हो उठता है। संसार के सारे पागलखाने ऐसे विकृत मन वाले मानवों से ही भरे पड़े हैं, नितिन बाबू। ऐसा मैंने किसी अंग्रेजी की 'Criminals' नाम की पुस्तक में पढ़ा था।"

"अच्छा जाने दीजिये उस बात को मैं तो केवल यही कहने आई हूँ कि मैंने उस बात के लिये बुरा नहीं माना है। मैं जानती थी कि उस बात को लेकर आप जाने क्या-क्या सोच रहे होंगे?"

"सच, शिकारे में कापी फेंककर इतना शंकित और दुःखी रहा था कि तब से अब तक एक पल के लिये भी पलक नहीं झपका सका हूँ।"

"सो तो आपका क्लान्त चेहरा और उनींदी आँखें ही कह रही हैं। अच्छा अब चलती हूँ। आप सोइये, फिर कभी

आऊँगी।"

मुझे लगा जैसे युग-युगों की अराधना के बाद देवी प्रगट हुई और अचानक ही अन्तर्धान होने जा रही हैं। मैं निरीह शिशु की भांति आग्रह करता-सा बोला—

"सो नहीं होगा। थोड़ी देर ठहर जाइये।"

"अच्छा" कहकर वे शान्त-सी कुर्सी पर बैठ गईं।

आज उनके बाल कंधों पर नहीं बिखरे थे। दो चोटियाँ कंधों पर होती हुईं सामने वक्षस्थल पर वयालिनी-सी लहरा रही थीं। उनकी उस नुकीली नासिका के नीचे पतले खिंचे आरक्त होंठ अपनी ओर वरबस मन खींच उठते थे। और उन गोल गुलाबी कपोलों पर वे स्निग्ध उजली तरल आँखें! जिन्हें देखते ही रोम-रोम सिहर उठता था। आँखें झुक जाती थीं।

किसी छन्द शास्त्र की पुस्तक में दाँतों की तुलना दाड़िम के दानों से दी गई थी। उसे पढ़कर मैं किसी भी भाँति उस प्रकार की कल्पना न कर सका था कि किसी के दाँत दाड़िम के दानों की भांति कैसे दिख सकते हैं किन्तु आज वही कल्पना उन आरक्त होठों पर बिखरती साकार होती देख रहा था।

वे धीरे-धीरे पान चबा रही थीं। पान की लाल से रंगी यह धवल दन्तावलि कुछ गुलाबी-सी हो उठी थी। ठीक दाड़िम के दानों-सी मनोरम! अति कमनीय!!

बहुत बार मैंने चाहा कि मैं कुछ क्षणों के लिये उस छवि का रसपान करता रहूँ किन्तु दृष्टि उस सौन्दर्य पर किसी भी प्रकार टिक न पाती थी। आँखें विछल-विछल जाती थीं।

तभी वे बोलीं—

"आप कहाँ से आये हैं?"

"दिल्ली से"

"वहाँ तो आजकल बहुत गर्मी होगी।"

"हाँ, लेकिन मैं तो बहुत पहिले से यहाँ आ गया था।"

"अकेले ही !"

"जी !"

"यहाँ अकेले मन कैसे लगता होगा ?"

"नहीं लगता तब...... ।"

"कविता की दुनियाँ में डूब जाते होंगे।"

"उसे मैं कविता तो नहीं कह सकता, हाँ मेरे लिये रोने का एक सहारा अवश्य ही है। किन्तु रोकर मुझे लगता है जैसे मैं हार गया हूँ। टूट गया हूँ। आँखों के आँसू मेरे पौरुष के लिये ललकार बनकर आते हैं। जब आँखों से आँसू ढलक पड़ते हैं तब मेरा आहत पौरुष कराह उठता है।"

"इस तरह सोचकर आप अपने को इतना छोटा क्यों बना लेते हैं ? मैं तो मानती हूँ जो रो नहीं पाते वही सब से बड़े विश्वासघाती हैं। नितिन बाबू ! मानव के आँसू ही अपने प्रति—अपने हृदय के प्रति, उसकी सचाई के सबसे बड़े प्रमाणमान् हैं।"

"हो सकता है।"

"हो सकता नहीं, होता है नितिन बाबू ! नहीं तो एक अपरिचित व्यक्ति के यहाँ इस अकेलेपन में कोई भी नारी इतने कम परिचय के आधार पर आने का साहस कर सकती है ?"

"यह तो आपकी निराभिमानता...... ।"

"निराभिमानता की बात नहीं है। यह तो मेरी अपनी मान्यता है। जाने किस पुस्तक में पढ़ा था—'अभिमान से बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है......और यह पंक्ति पढ़ते ही मुझे लगा जैसे यह जीवन-सूत्र अधूरा है। इसके साथ जोड़ देना चाहिये—और विश्वास के प्रतीक हैं—मानव की आँखों से निकले आँसू !"

मैंने धीरे से कहा—"अंग्रेज़ी में जिन्हें 'क्रोकोडायल टीयर्स' (बनावटी आँसू) कहा जाता है, वे भी तो आँसू ही होते हैं।"

"वह पदार्थवादी संसार की देन है।"

"किसी की भी देन हो पर ऐसे आँसू बहाने वाले मानव इस धरती पर हैं तो।"

"किन्तु नितिन बाबू! आँसुओं की पहिचान करने की शक्ति भी भगवान् ने उसी मानव को दी है जिसने जीवन में कभी सच्चे हृदय से सच्चे आँसू बहाये होते हैं। वे पहिचानने में कभी गलती नहीं करते।"

तभी मैंने बातचीत की दिशा बदलते हुए पूछा—"आप यहीं की रहने वाली हैं?"

"हाँ, मेरे पुरखे कश्मीरी ही थे किन्तु अब हम लोग कलकत्ते में जाकर बस गये हैं। छुट्टियों में कभी-कभी आते हैं।"

"तभी।"

"तभी क्या नितिन बाबू!"

"आपके संगीत में जो एक प्रकार का कम्पन-सा है, उसमें टैगोर म्युज़िक की छाप-सी रहती है। है न?"

"होना तो चाहिये। मैंने पाँच वर्ष तक गुरुदेव के चरणों में बैठकर संगीत और चित्रकला की अराधना की है।"

"अपने बनाये चित्र कल लायेंगी?"

"कल?"

"जी!"

"अच्छा, ले आऊँगी।"

"बुरा न मानें तो एक बात पूछूँ?"

"पूछिये!"

"मैं आपको किस नाम से पुकार सकता हूँ?"

"मुझे 'साधना' कहते हैं।"

"बहुत सुन्दर !"

"सुन्दर और दुखदा भी।"

"दुखदा क्यों ?"

"साधना में तप और संयम का कष्ट जो छिपा रहता है।"

"हाँ, उसकी थोड़ी-सी अनुभूति तो पिछले सात-आठ रोज़ में मुझको भी हुई है।"

यह सुनकर वह हँस पड़ी। फिर हँसते-हँसते ही बोली—

"सुनते हैं तप की सिद्धि सुख देती है सो शिकारा के पीछे भागने का कष्ट आज न होने दूँगी। आज मेरे साथ ही शिकारा में घूमने चलिये।"

सुनकर मुझे लगा—जैसे किसी के युग-युग के संचित पुण्यों का फल एक निमिष में मिल गया है।

साँझ का धुँधला प्रकाश रात की अँधियारी में घुलता जा रहा था। तभी चाय लेकर वह कश्मीरी कन्या आई। जिस प्रकार उसने चाय की ट्रे मेज़ पर आकर रक्खी और जिस प्रकार उस चाय में दूध शक्कर मिश्रित करके प्याले हम लोगों के सामने रख दिये, वह सचमुच ही ऐसा लगा जैसे उसने कभी अपने जीवन में अच्छे दिन भी देखे हैं या किसी सम्भ्रान्त परिवार में बहुत समय तक रही है।

साधना एकटक उस लड़की को देखती रही। फिर चाय पीते-पीते शंकित आँखों से बीच-बीच में बार-बार उसे देख लेती थी। मैं बैठा-बैठा सोचने लगा—ऐसे क्यों देख रही है ?

तभी वे चाय का प्याला एक ओर सरकाकर उठ खड़ी हुईं और बोलीं—

"ऐसी स्वादिष्ट चाय के लिये धन्यवाद।"

"धन्यवाद में आपका विश्वास है ?"

"मैं इसे ऐसा महत्व ही नहीं देती जिसके सम्बन्ध में

विश्वास की बात को लेकर मीमाँसा करूँ ।"

इस बात को जिस तरह से उसने कहा सो मुझे वहुत अच्छा लगा किन्तु जो कुछ कहा गया उससे ऐसा ध्वनित हुआ, जैसे मुझे मूर्ख ठहराया गया हो ।

मैं बिना कुछ कहे चुपचाप उसके शिकारे में जा बैठा ।

शिकारा धीरे-धीरे आगे की ओर सरकने लगा । आज आकाश में उन पहाड़ियों के ठीक ऊपर चन्द्रमा उग आया था ।

एक वार मैंने किसी बंगाली कलाकार द्वारा बनाया गया शंकर भगवान् का चित्र देखा था । उनके मस्तक पर जिस प्रकार वक्र चन्द्रमा अंकित किया गया था, सो उस पहाड़ी के ठीक ऊपर वह वक्र चन्द्रमा देखकर मुझे लगा ; जैसे उस विराट के चित्रालय में वनाया गया भगवान् शिव का वह अति सुन्दर चित्र हो ।

वरवस श्रद्धा से मेरा माथा झुक गया ।

वे वोली—"क्या हुआ नितिन बाबू ?"

"उधर देखिये ।"

"कुछ भी तो नहीं ।"

"वे जटाजूट धारी चन्द्रशेखर ।"

सुनकर कुछ देर वह अपलक नयनों से उस ओर देखती रही फिर देखते-देखते ही बोली—

"सच, कलाकारों के पास इन आँखों के अतिरिक्त दो दूसरी आँखें भी होती हैं ; जो बात इन ऊपर की आँखों से हम नहीं देख पाते उसी को उन कलाकारों की आँखें पकड़ लेती हैं । कितनी वार आकाश में पहाड़ी पर चमकता ऐसा वक्र चन्द्रमा देखा है किन्तु ऐसे अवसरों पर मुझे भगवान् चन्द्रशेखर के दर्शन कभी नहीं हुए ।" कहते-कहते उसने दोनों हाथ ऊँचे करके मस्तक से लगा लिये ।

मैं मन ही मन सोचने लगा—ये जो मेरे सामने बैठी है

लगता है ; जैसे वे उस जगन्नियंता की सर्वश्रेष्ठ कृति हैं। जाने कितने सौन्दर्य जीवन में देखे हैं। कितने कण्ठों से निकले गीत सुने हैं। इतने लम्बे जीवन में कितना क्या देखा है किन्तु ऐसी श्रद्धा, बौद्धिक प्रतिभा, रूप रंग और ऐसा सहज सरल स्वभाव, एक नारी में एक साथ कभी देखने को नहीं मिला।

तभी वे बोलीं—

"कवि प्रायः गायक होते हैं और जो किसी का गीत मात्र सुनकर उसके प्रति गीत लिखने बैठ जाये वह तो अवश्य ही गायक होना चाहिये। सुना सकेंगे कुछ ?"

"गाता तो हूँ किन्तु इतने बड़े कलाकार के सामने हाथ पैर ढीले हो जाते हैं।"

"ऐसी तो कोई बात नहीं है। सुनाइये ! कुछ सुनाइये !"

"नहीं, साधना देवी ! आज नहीं फिर कभी।"

फिर उन्होंने कोई आग्रह नहीं किया। उनकी ओर देखता-देखता बोला—

"पिछले दिनों मैंने एक बात आप में अति आश्चर्यजनक देखी है।"

"क्या नितिन बाबू ?"

"आप रोज़ केवल एक गीत गाती हैं। वह भी ठीक पौने बारह बजे। सो क्यों ?"

"नितिन बाबू, जो लोग कभी भी गा सकते हैं उन गायकों पर सचमुच ही मुझे तरस आता है। सोचती हूँ—कैसे गा लेते हैं वे ? गीत तो कभी-कभी अन्दर से बाहर आने के लिये छटपटा उठता है और जब गायक से बिना गाये नहीं रहा जाता तभी वह गा उठता है। सचमुच इसी मनोदशा में गाया गया गीत संगीत की सीमा में आता है। सभा सोसायटी में किसी भी समय किसी के भी आग्रह पर गाने वालों के प्रति मैं दया और रोष दोनों

प्रकार के भावों से भर उठती हूँ।"

"आपकी बात का अर्थ तो यही हुआ न कि गीत निश्चित समय पर नहीं गाये जा सकते। फिर आप कैसे निश्चित समय पर ही गाया करती हैं?"

"यही तो मैं कह रही थी कि कैसी है मेरे जीवन की विडम्बना! अभिशप्त की भाँति मुझे निश्चित समय पर निश्चित गीत ही गाने पड़ते हैं।"

"गाने पड़ते हैं? मैं समझा नहीं। ऐसा क्यों होता है?"

"नितिन बाबू, इसके पीछे एक कहानी है।"

"सुना सकेंगी?"

"ऐसी रोमान्स की कहानी सुनाने में सुख और आनन्द दोनों ही मिलते हैं सो ऐसे आनन्द को सहज ही में कैसे त्याग कर सकूँगी किन्तु सोचती हूँ सुनकर आप मुझे क्या समझेंगे? मेरे प्रति लिखे गये गीतों के रूप में जो श्रद्धा के फूल आपने मेरे आँचल में डाल दिये हैं सो कहीं उससे वंचित न हो जाऊँ!"

"साधना, रोमान्स को मैं जीवन मानता हूँ। रोमान्स तभी तक रोमान्स है जब तक उसके कहने में भोक्ता आनन्द का अनुभव करता है और जब उसे गोपनीयता की सीमा में घुटने के लिये छोड़ दिया जाता है, तभी वह पाप बनकर उस मानव को अपनी आँखों में ही गिरा देता है।"

साधना शिकारे से हाथ निकालकर पानी उछालती-उछालती बोली—

"अच्छा नितिन बाबू, मैं सुनाऊँगी। आज से पाँच वर्ष पूर्व की बात है। वे यहीं काश्मीर आये थे"—कहते-कहते साधना का कण्ठ रुक गया फिर वह किसी भी प्रकार कुछ न कह सकी।

थोड़ी देर चुप रहकर बोली—"नितिन बाबू, आज नहीं फिर कभी सुनाऊँगी। कुछ देर वह चुपचाप बैठी रही फिर धीरे-

धीरे गाने लगी—

ले नींद हमारी तुमने, निधि कौन विश्व की पाई?
था एक सहारा मेरा, कुछ पल तो थे कट जाते।
वे पल अभाव के सूने, बन सुखद स्वप्न सिहराते॥
अब स्वप्न हुआ है सपना—
सपनों ने आँख चुराई।
ले नींद..................?

गिनगिन अम्बर के तारे, काटूँ पहाड़ सी रातें।
अब काट रहीं है मुझको, तेरी वे मधुमयी बातें॥
रे इसीलिये क्या तूने—
थी जगमग ज्योति जलाई?
ले नींद.................. ?

रे उन मीठे सपनों में, थे मुझको तुम दुलराते।
तुम लिये तूलिका कर में, जीवन के चित्र बनाते॥
चित्रों को जला जलाकर,
तुमने क्यों राख बनाई?
ले नींद..................?

गीत समाप्त वहां हुआ जहां नितिन का हाउसबोट खड़ा था। गीत गाकर पहिले वे शिकारा के एक किनारे की ओर तकिया के सहारे अर्धउन्मीलित आँखों से श्लथ-सी बैठ गई। उस प्रथम दिन भी नितिन ने ठीक वैसी ही आँखें देखी थीं।

उन्हीं तन्द्रिल आँखों से माँझी की ओर देखकर बोलीं—

"माँझी, शिकारा रोक दो।"

शिकारा रुक गया फिर पलक उठाकर थकी-सी मेरी ओर देखती हाथ जोड़कर बोलीं—

"नमस्कार! आज के साथ के लिये धन्यवाद।"

"नमस्कार! यह तो सचमुच ही आपकी सौजन्यता है।

कल किस समय आयेंगी ?"

"आजकल तो मेरे पास कुछ भी काम नहीं है। फिर कोई संगी-साथी भी नहीं है। कितने दिनों बाद आज बात-चीत का आनन्द आया है। आज तो सचमुच ही आपके सान्निध्य का सुख लिये लौट रही हूँ।"

उनके मुँह से वैसी बात सुनकर मुझे लगा जैसे मैं खड़ा नहीं रह सकूंगा। सारा शरीर झनझना गया। काँपते कण्ठ से मैंने कहा—"मैं कल पहलगांव जाना चाहता हूँ। क्या आप चल सकेंगी ?"

"क्यों नहीं ? पिता जी तो कलकत्ते गये हैं। घर में अकेली ही हूँ और आप जैसे निरापद और गुणी आदमी के साथ चलना कम सौभाग्य की बात नहीं होगी।"

"सच !"

"हां, सच ही तो।"

"तो किस समय चल सकेंगी ?"

"जब भी आप कहें।"

"खा-पीकर यहां से दस बजे निकल चलेंगे।"

"मैं साढ़े नौ बजे यहां पहुँच जाऊंगी। अच्छा ! नमस्कार"

"नमस्कार।"

नमस्कार करके अपने जुड़े हुये हाथों को अपने घोंटुओं में दबाकर उसने कहा—

"माँझी ! चलो।"

सुनते ही माँझी के हाथ यंत्र की भाँति चलने लगे और छप्-छप् करता वह शिकारा आगे की ओर बढ़ गया। जब तक वह मेरी आंखों से ओझल नहीं हो गया, मैं खिड़की में बैठा हाथ हिलाता रहा और उधर से उस कोमलांगी का वह हिलता हुआ हाथ, मैं देखता रहा। धीरे-धीरे वह हाथ धुँधला होता गया और

अन्त में उस अंधकार में खो गया।

रात के बारह बज चुके थे। मैं सोने के कमरे में गया। मेज़ पर दुग्ध फेन सदृश्य सफेद कपड़े से ढकी भोजन की थाली रक्खी थी और पास ऊँघती-सी वह कश्मीरी लड़की बैठी थी। उसकी ठोड़ी के नीचे वाला वह तिलक उसके गोरे चेहरे पर अति कमनीय-सा दिख रहा था।

मेरे पैरों की आहट से वे उनींदी आँखें खुल गईं और सो जाने की असावधानी को मन-ही मन अपराध मानकर घबराई-सी बोली—

"माफ करना साब ! थक गई थी।"

"अब तुम जाओ मैं खा लूँगा।"

वह हमेशा की भाँति पाँयते ओर पड़ी रजाई को सम्भालती एक मार्मिक दृष्टि-क्षेप करती चली गई।

कमरे से जाते समय वह उसी प्रकार मुझे रोज़ देखा करती थी। उस देखने में क्या था, सो मैं किसी भी प्रकार न समझ पाता था।

उस लड़की के सम्बन्ध में मैं इतना ही जानता था कि वह माँझी की लड़की अपने पिता की आज्ञा से ही मेरे खाने-पीने तथा हाउसबोट की सफ़ाई का प्रबन्ध किया करती थी; किन्तु यह बात मेरी समझ में किसी भी प्रकार न आती थी कि उन जवान लड़की को रात के बारह बजे तक मेरे कमरे में रहने की आज्ञा उसके बूढ़े बाप ने कैसे दे रक्खी थी और फिर वह मार्मिक दृष्टि ? सो उसका क्या अर्थ था ?

उड़ता-उड़ता मन जा पहुँचा उस महाश्वेता के पास जिस के गीतों की गूँज पिछले दिनों से उसके चारों ओर छा गई है। खाते-पीते, सोते-जागते प्रति पल उसके कानों में गूँजता रहता था, वह कांपता कण्ठ-स्वर ! आँखें बन्द करते ही उसे लगा जैसे

वह भुवनमोहिनी सामने बैठी अर्ध-उन्मीलित आँखों से उसे देखती गाये जा रही है।

फिर उसने देखी वह नासिका, दाड़िम के दाने जैसी दन्तावलि ! वे खिंचे हुये आरक्त ओंठ ! और वे स्निग्ध आँखें !! जो बात करते समय अति तरल-सी हो उठतीं थीं।

उसी समय उसकी आँखें खुलीं। उसने आकाश की ओर देखा। आकाश में एक ओर तारा टूटा। प्रकाश की एक रेखा-सी खिंच गई और फिर वही अन्धकार !

सोचने लगा—आज उसके अन्धकार पूर्ण अन्तस्तल में भी कहीं उल्कापात हुआ है। सुख की दीप्ति से उसका एकाकी जीवन जगमगा उठा है किन्तु प्रकाश की इस रेखा के वाद फिर कालिमा निश्चित है.........सोचते-सोचते उसका मन उदास हो उठा। एक गहरी निराशा चारों ओर छा गई।

उसे याद आया वही ऑस्कर वाइल्ड का गद्य गीत—"The Artist" जिसमें स्वरचित 'चिर दुख' के वदले में 'क्षणिक सुख' की कल्पना को साकार करने के लिये 'चिर दुख' वाली तांबे की मूर्ति को भस्म कर डाला था।

वह सोचने लगा—तो वह क्यों सदा भविष्य के चिरदुख की कल्पना किया करता है ? क्यों नहीं वर्तमान के 'क्षणिक सुख' में अपने को खो देता। उसने निश्चय किया—अब वह कभी अनागत की चिन्ता करके अपना मन दु:खी न करेगा।

और पता नहीं कब उसे नींद आ गई।

जब सुबह हुआ तो आँख खुलते ही किसी के सान्निध्य में होने वाली पहलगाँव की यात्रा याद आई। काश्मीर की ठण्डी हवा के झोंके धीरे-धीरे उस खिड़की से आ-आकर उसके अंग-अंग में एक प्रकार की कँपकँपी-सी पैदा कर उठते थे।

वह लेटे-लेटे सोच रहा था—वे साथ होंगी कितनी बातें

होंगी। कितने गाने सुनूँगा। कम-से-कम दो दिन और यदि हो सका तो उससे भी अधिक समय तक उसके अति निकट रहने का सौभाग्य मिलेगा।

सोचने लगा—उसके सान्निध्य की इस कल्पना मात्र से ही जब उसका रोम-रोम सिहर उठता है तब उस सुख की प्राप्ति पर क्या होगा ? वह पागल न हो जायेगा ?

उसका मन भटकता-भटकता जा पहुँचा भविष्य के उस छोर पर। एक विचार आया—और जब इन यात्राओं के बाद वह घर लौटेगा तब ? यह वर्तमान में पाया सुख अतीत की स्मृति बनकर शत-शत वृश्चिक दंशनों की भांति उसे तोड़-तोड़कर नहीं रख देगा ?

सोचते-सोचते वह अपनी बात पर स्वयं ही हँस पड़ा। सोचने लगा—अभी थोड़ी देर पहले ही उसने निश्चय किया था कि अनागत दुख को लेकर वह दुःखी न होगा। वर्तमान के क्षणिक सुख में ही अपने को रमा लेगा और सब कुछ भूलकर वह फिर रोने बैठ गया है।

तभी उस काश्मीरी लड़की ने कमरे में प्रवेश किया। रोज़ की भाँति किताबें मेज़ पर सजाती बोली—

"साब ! आपको आज पहलगाँव जाना है। वख्त हो गया है। उठिये साब !"

मैंने घड़ी की ओर देखा पौने नौ बज चुके थे। मैं हड़बड़ाता-सा उठ बैठा। यह सोचकर कि वह साढ़े नौ बजे आ रही है और अभी पौना घण्टा शेष है। मैं, भाग-दौड़कर जाने की तय्यारी करने लगा। जब मैं स्नानागार में था तभी आवाज़ आई—

"आ सकती हूँ ?"

उस काश्मीरी लड़की ने उत्तर दिया—

"आइये साब ! बाबू गुसल कर रहा है।"

"जब मैं बाहर आया तो मैंने उन्हें खिड़की के पास पड़ी कुर्सी पर बैठे देखा।

आज वे लाल किनारी की बादामी साड़ी पहिनकर आई थीं। सफेद चुस्त ब्लाऊज़ पहिने थीं, जिसमें उनके अंग-प्रत्यंग कसे हुये से अति सुन्दर लग रहे थे। कैसा आकर्षक था वह शरीर-शौष्ठव।

दो लम्बी चोटियों के स्थान पर पीछे सम्भालकर जूड़ा बांधा गया था। उस काले जूड़े में एक सफेद फूलों का गुच्छा झूल रहा था। उनका वह गौर वर्ण न जाने क्यों आज रात की अपेक्षा अधिक दीप्त एवं कमनीय-सा हो उठा था।

"मुझे देखकर बोलीं—"नमस्कार, नितिन बाबू।"

"नमस्कार। आप तो बड़ी पंचुअल भी दिखती हैं। संसार का एक-एक गुण बिना ग्रहण किये नहीं छोड़ा है।"

मेरी बात का बिना उत्तर दिये बोलीं—"अब चलिये न नितिन बाबू।"

"हाँ, मैं तय्यार ही हूँ। एक-एक कप चाय और ले लें।"

हम दोनों उस काश्मीरी लड़की की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी उसने पूर्ववत् कमरे में प्रवेश किया। हम लोग चाय पीकर जब चलने लगे तभी उसने जिस प्रकार मुझे देखा वह रोज़ की दृष्टि से कुछ भिन्न था। उसमें स्पष्ट था—वात्सल्य ! मात्र वात्सल्य !!

४

हम लोग जब पहलगांव पहुँचे उस समय दिन के बारह बजे थे। ठहरने की कोई कठिनाई न हुई। यहाँ का अनुभव दूसरे हिल स्टेशन से भिन्न प्रकार का था।

'वजीर होटल' में मैंने डबल रूम का कमरा लेना चाहा किन्तु साधना ने साग्रह कहा—

"डबल रूम लेकर क्यों अधिक पैसे खर्च करेंगे? सिंगल रूम में ही चल जायेगा।"

सुनकर उस नारी के साहस पर मैं मुग्ध हो उठा। आश्चर्य से उसकी ओर मुँह फाड़े मैं सोचने लगा—इतने कम समय के परिचय में कोई नारी कैसे किसी अपरिचित के साथ एक ही कमरे में रात बिता सकती है? उसके उस अदम्य साहस को देखकर मन उसके प्रति श्रद्धा से भर उठा।

पहलगांव श्रीनगर से ठंडा था। ठंडी हवा चल रही थी। वज़ीर होटल के पीछे हरी-हरी पहाड़ियाँ थीं। उनके चरणों को धोती हुई एक पहाड़ी नदी दहाड़ती-सी दौड़ी जा रही थी। मैं बिना खाये-पीये चुपचाप बिना बिस्तर बिछाये चारपाई पर लेट गया। लेटते ही झपकी आगई।

जब उठा तो देखा उस कमरे का कायाकल्प हो गया है। यह देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि उस होटल के दरवाजों और खिड़कियों पर हलके नीले रंग के पर्दे भी लगा दिये गये हैं। कमरे के सामने पड़ी मेज़ पर फूलों का एक गुलदस्ता सँवार कर रख दिया गया है। मेरे लिये खिड़की के पास ही एक

चारपाई पर विस्तर बिछा दिये गये हैं और तकिये का गिलाफ बदल दिया गया है।

वे कुर्सी पर बैठी थीं, मुझे जगते देख बोलीं—"नितिन बाबू, इधर लेट जाइये। उस बिस्तर पर।"

पहलगाँव की उस हवा में एक प्रकार का उन्माद-सा था। मैं मोहाच्छन्न-सा उस चारपाई पर जा लेटा। लेटते ही फिर गहरी नींद में सो गया।

इस बार जब उठा तो खिड़की से देखा पहाड़ियों में सूर्यास्त हो रहा था। उस पहाड़ी नदी की हहराहट तीव्र हो उठी थी।

इस प्रकार की अपनी लम्बी नींद के लिये क्षमा याचना-सा करता मैं बोला—

"दिन में बहुत कम सोता हूँ किन्तु न जाने क्यों आज दिन ही में इतनी गहरी नींद कैसे आगई।"

मेरी बात का बिना जवाब दिये ही वे बोलीं—"इधर स्नानागार में गर्म पानी रक्खा है।"

लगता था उन्होंने थोड़ी देर पहिले ही नहाया था। कंधों पर बाल बिखरे थे, जिनसे मोती बिखर-बिखर पड़ते थे। एक सादी-सी सफेद साड़ी पहिने बैठी थीं। उस रूप में देखकर मुँह से अचानक निकल गया—"साधना! तुम तो सचमुच ही किन्नरों-सी जान पड़ रही हो।"

"अहोभाग्य मेरे नितिन बाबू! जो मुझ-सी हतभागिनी में किन्नरी का रूप आप देख सकें।" कहकर वे निर्निमेष-सी मुझे देखने लगीं।

और मैं उस बात के लिये मन ही मन पछताता-सा स्नानागार में चला गया।

जब हाथ मुँह धोकर कमरे में लौटा तो मन स्वस्थ हो चुका था। लौटकर देखा मेज़ पर खाना परोसा रक्खा है।

थाली में रक्खे उन व्यंजनों को देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। थाली में चुन-चुनकर वही पदार्थ लाकर रक्खे गये थे जो मुझे बहुत भाते थे।

यहाँ तक कि नींबू का आचार भी रखना नहीं भूली थीं। लगता था कि चलने से पूर्व वे उस कश्मीरी लड़की से भोजन के सम्बन्ध में मेरी रुचि-अरुचि सम्बन्धी विशद ज्ञान प्राप्त करना तक न भूली थीं।

खाते-खाते मैं उन कलापूर्ण पर्दों को देखते-देखते बोला—

"हम लोग दो दिन के लिये ही यहाँ आये थे। इन दो दिनों के लिये भी आप पर्दे लाना न भूलीं। बिना पर्दे के क्या न चल सकता था?"

वे दांतों से आलू का टुकड़ा काटती बोलीं—"नितिन बाबू, वर्तमान का एक-एक पल मेरे लिये भविष्य के समूचे जीवन से अधिक मूल्यवान् है। फिर ये दो दिन जो आपके साथ बीतेंगे, मैं चाहती हूँ ये दो दिन मेरे जीवन की स्थायी स्मृति बनकर रह जायें। उसके लिये जो कुछ भी मैं जुटा सकती थी सो वही जुटाकर लाई हूँ।"

साधना की यह बात सुनकर मुझे लगा जैसे जीने की कला का यह प्रथम पाठ मैंने पहिली बार सीखा है, प्रथम बार जाना है।

तभी अपनी थाली में बिखरे उन व्यंजनों को देखकर मैं बोला—"और यह जादू कहाँ से सीखा? मेरी रुचि की ही इतनी सारी चीज़ें आप इस पहलगाँव में कहाँ-कहाँ से खोज लाईं। मुझे क्या पसन्द है क्या नापसन्द है इस प्रकार का ज्ञान आप कहाँ से प्राप्त कर सकीं?"

"नितिन बाबू, इस प्रकार खोज-खोजकर खिलाने में कितना सुख सन्तोप मिलता है सो पुरुप होकर आप नहीं समझ सकते। मैंने वह किया है जो एक नारी किया करती है। इसमें ऐसी

आश्चर्य करने जैसी बात तो कुछ भी नहीं है।

मैं उस नारी के मुँह की ओर देखता-देखता सोचने लगा—कैसी गहराई से इसने जीवन को समझा है।

तभी मेरी निगाह कमरे के कोने की ओर गई। धरती पर ही बिस्तर किया गया था।

उस ओर देखकर मैं बोला—"आप धरती पर सोयेंगी?"

"जी!"

"क्यों?"

"कुछ कारणों से अपने जीवन में इसी प्रकार के कुछ विधि-निषेध कर रक्खे हैं।"

तब मेरा ध्यान गया उसकी थाली की ओर जिसमें सब्जी की एक कटोरी, बिना चुपड़ी एक चपाती और थोड़ा-सा चावल रक्खा था।

मेरा मन उसके प्रति श्रद्धा से भर उठा। अति आर्द्र कण्ठ से बोला—"साधना! सचमुच ही तुमने अपने इन विधि-निषेधों से अपने नाम को सार्थक बना लिया है। तुम्हारे रहन-सहन को देखकर कौन विश्वास कर सकेगा कि बाहर से दिखती इस विपुलता के पीछे तुम्हारा यह रूप छिपा हुआ है।"

सुनकर वह हँसते-हँसते बोलीं—"यह सब करके मैं किसी की आँखों में ऊँचा नहीं उठना चाहती। यह सब करती हूँ इसलिये कि इस प्रकार के संयम से जीवन के पथ पर सजग होकर चलने में मुझे सहायता मिलती है।"

खा-पीकर हम होटल के पीछे हहराती नदी के किनारे घूमते-घूमते जा पहुँचे।

पता नहीं क्यों पानी की उस हहराहट को सुनकर मेरा मन कराह-सा उठता था। मैं उस लकड़ी के पुल से कुछ दूर बिजली घर के सामने नदी के किनारे जा बैठा। तब आकाश में चन्द्रमा

उग आया था।

चाँद के उस उजियाले में नदी की फैनिल लहरें उछलती उछलती-सी दौड़ी जा रही थीं।

नितिन खिन्न-सा चुप बैठा था और उसके पास बैठी थी, साधना। वह उन दौड़ती लहरों को देख रहा था। देखते-देखते बोला—"साधना, इस पहाड़ी नदी को देखकर लगता है जैसे मेरा भाग-दौड़ भरा जीवन इस नदी में साकार हो उठा है।"

"अच्छा ही तो है, उधर देखिये नदी के इस वेग में कितनी शक्ति है। लकड़ी की वह पिण्डी किस तरह उस वेग के सहारे बही चली आ रही है।"

"हाँ, आ तो रही है।"

"नितिन बाबू, ठीक इसी तरह जिनके जीवन में वेग होता है वे भी इसी प्रकार जाने कितने शक्तिहीन मानवों को ठीक इस वेग की भाँति अपने साथ बहा ले जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो आप इतनी सरलतापूर्वक मुझे यहाँ तक कैसे ला पाते।" कहते-कहते वह खिलखिला पड़ी।

उसकी हँसी को सुनकर मेरे मन की समस्त विरसता धुल पुछकर साफ हो गई। मैंने कहा—

"साधना, कोई गीत सुना सकोगी ?"

वह उन उछलती लहरों की ओर देखते-देखते बोली--"नितिन बाबू, उस रात मैंने कहा था न—मैं किसी के आग्रह पर नहीं गा पाती। मैं गाती हूँ तब, जब बिना गाये मुझसे रहा नहीं जाता।"

"उस दिन आपने यह भी तो कहा था कि आप किसी कारण बिना मन के ही निश्चित समय पर गाया करती हैं।"

"यह तो मैंने नहीं कहा कि मैं बिना मन के गाया करती हूँ। हाँ, यह ठीक है कि निश्चित समय पर किसी कारणवश मुझे गाना पड़ जाता है।"

"क्या निश्चित समय पर किसी का मन गाने के लिये हो सकता है ?"

"सो तो मैं नहीं जानती किन्तु मेरा हो जाता है।"

"सो कैसे साधना ?"

"इसलिये कि उस निश्चित समय के साथ मेरे जीवन की एक घटना जुड़ी हुई है। उस समय बिना गाये मैं रह ही नहीं सकती।"

साधना बार-बार अपनी कलाई पर बँधी रेडियम की सुइयों को देख लेती थी। बातें करते-करते पौने बारह बजे। और साधना गा उठी—

दिन डूबा तारे मुस्काये
सिसक - सिसक गई रैन।
बैठी सूना पंथ निहारूँ,
झरझर बरसत नैन॥
दुनिया के सब सपने जागे
भाग हमारे सोये—
ओ बेदर्दी जीवन बाती
पल - पल व्याकुल होय॥ हेरी मैं……

साधना के उस गीत को मैं मुट्ठी बाँधकर ही किसी प्रकार सुन सका। उसके गीत में एक ऐसी मीठी कसक और गहरी व्यथा थी, जिसे सुनकर किसी का भी हृदय कराह उठता। उसके गीत का एक-एक कंपन, एक-एक तान पकते फोड़े पर चोट की तरह से लगती थी। गीत जब समाप्त हुआ तो पास ही पड़े एक पत्थर के सहारे अर्ध-उन्मीलित आँखों से पहाड़ी के ऊपर उगे चाँद को वह देखने लगी।

उसने कितनी बार उसके गीतों को सुना था किन्तु उस दिन के गीत को सुनकर नितिन को लगा जैसे वे तानें जो अभी-अभी

गाई जा चुकी हैं—आकाश में टिमटिमाते तारों तक पहुँचती हैं और उन सामने खड़ी पहाड़ियों से टकरा-टकरा कर लौट आती हैं। वे लौटी तानें उसके चारों ओर गूँज-गूँज कर बिखर जाती हैं। उसे लगा जैसे उसकी छाती में बाईं ओर कुछ दर्द-सा उठ रहा है—उसकी साँसें रुक-रुक कर आने लगीं। वह साँस रोककर उठा और बेचैन-सा होकर बोला—"साधना, मेरी तबियत बिगड़ती जा रही है।"

"क्या हुआ कहीं दर्द है ?"

"हाँ साधना, कभी-कभी मुझे हृष्टि अटेक हो जाता है। आज भी उसी के हलके लक्षण दीख रहे हैं। कहते-कहते उठा और लकड़ी के पुल की ओर उठकर चल दिया। जब हम होटल में पहुँचे तब चारों ओर निबिड़ अंधकार था।

द्वार पर पहुँचते ही होटल के मैनेजर मि० कॉल ने उसकी ओर एक बंडल बढ़ाते हुए कहा—"साब ! यह मोमबत्तियां और दियासलाई है। आज इसी से काम चलाना होगा। क्योंकि बिजली घर में मरम्मत का काम हो रहा है।"

साधना ने आगे बढ़कर मैनेजर के हाथ से दियासलाई और मोमबत्तियाँ ले लीं। दोनों सीढ़ियों पर चढ़ने लगे।

होटल के उस कोने वाले कमरे में जाकर साधना ने मोमबत्ती जलाई और गुलदस्ते के पास रख दी। नितिन बाबू ने अपनी अटैची से एक लाल रंग की गोली निकाली। साधना बिना कहे ही गिलास में पानी लेकर पास जा खड़ी हुई। नितिन ने दवा कंठ के नीचे उतारकर पानी के दो घूँट पी लिये।

साधना उसके सिरहाने की ओर एक कुर्सी डालकर बैठ गई और आवाज़ में मिठास-सी भरकर बोली—'अब कैसी तबियत है नितिन बाबू ?

"ठीक है।"

"बुरा न मानो तो माथा दबा दूँ ?"

"बुरा क्यों मानूँगा ? किन्तु आप इतना कष्ट···"

"कष्ट की क्या बात है नितिन बाबू !"

नितिन नहीं सुन सका कि उसने क्या कहा। जब भी 'हार्ट अटेक' के लक्षण प्रगट होते हैं वह केवल अपने विगत जीवन की मीमांसा मन ही मन करने लगता है। समस्त जीवन में घटी अच्छी-बुरी घटनायें फिल्म की भांति एक के बाद दूसरी आने लगती हैं। फिर उन घटनाओं में डूब-सा जाता है।

कच्छप की भांति अपने को समेटकर इस प्रकार बाह्य जगत् से नाता तोड़ लेता है कि चाहे सामने से ढोल बजाती बारात निकल जाये, किन्तु उसे लगता है, जैसे कहीं मक्खी भी नहीं भिनकी है।

जब भी ऐसा हुआ है तब विगत जीवन की उन घटनाओं के अन्त में सदा उसके मुँह से यही निकला—"मैं अपने इस एकाकी जीवन की व्यर्थता का भार लिये कब तक भागता रहूँ ? मैं विश्राम चाहता हूँ। विश्राम ! सहारा !! किन्तु ऐसा किस पर मैं विश्वास कर सकूँ ? किसकी गोद में मुँह छिपाकर उस जानवर की तरह तूफानों के वेग को सहार सकूँ जो मरुस्थलीय-आँधी को मुँह छिपाकर सहा करता है।"

५

जीवन में कितनी गोदों में उसने अपना मुँह छिपाया है किन्तु क्या जीवन में कभी भी ऐसी गोद पा सका है जिस पर समग्र मन से विश्वास कर सका हो, जिसे वह अपना कह सके। सभी आये भटका-भटका कर मार डालने के लिये, उसके जीवन-रस का बूँद-बूँद चूस लेने के लिये।

उसे लगा जैसे पैरों तले कुचले फूल की भाँति वह धूल भरे जन-मार्ग में पड़ा है। उसकी पंखुड़ियाँ उससे छूट गई हैं। बिखर गई हैं।

उसने माथे पर कुछ अनुभव किया, ऐसा जिसके स्पर्श-मात्र से उसके अन्दर हाहाकार करती शून्यता भर उठी। उसने चाहा कि वह वैसा ही पड़ा रहे। युग युगों तक इसी प्रकार निश्चल, बिना हिलेडुले और वह माथे पर धीरे-धीरे सरकती किसी की अँगुलियाँ इसी प्रकार हिलती-डुलती रहें, किन्तु कौन समझ सका है इस मन की माया को?

मन है, ठीक उस शराबी जैसा जिसने हाल ही में पीना सीखा है। पहिले एक प्याला! दूसरे दिन वह कम लगता है फिर कुछ अधिक मात्रा में लेने पर उन्माद छा जाता है। बढ़ते-बढ़ते बोतलों पर बोतलें पीने पर भी उसे तृप्ति नहीं होती। और फिर इसी अतृप्ति में वह अभागा मानव किसी दिन सिर पटक-पटक कर अपने प्राण दे देता है।

वे अँगुलियाँ जो माथे पर धीरे-धीरे आगे पीछे थोड़ा दबाव के साथ सरक रही थीं, उसने चाहा कि वे अपनी सीमा की परिधि

कुछ विस्तृत कर लें।

कभी-कभी उन अंगुलियों के पोरे उसके जलते कपोलों पर छू जाते थे। वह सिहर उठता था। वह चाहता था कि दबाव जो उसके माथे पर पड़ रहा है, वह स्पर्श जो माथे के सीमित क्षेत्र को मिल रहा है वह बढ़कर आ जाये कपोलों पर।

अचानक वह अपने मन के इस व्यापार की कल्पना करके काँप उठा। उसने धीरे से साँस रोककर कहा—"बस साधना ?"

और उसने जाना कि वे अंगुलियाँ वहाँ से उठ गई हैं।

उसे लगा जैसे जीवन भर की प्रतीक्षा के बाद जो अचानक ही उसे मिल गया था उसी को पल-मात्र ही में उठाकर उसने स्वयं ही फेंक दिया है। उसे लगा जैसे जीवन भर एक-एक ईंट जोड़ कर जो प्रासाद उसने खड़ा किया था, उसे पल-मात्र में उसने बिखेर दिया है और वह खँडहर की उन बिखरी ईंटों के पास पश्चाताप से जलता खड़ा है।

वह चुपचाप साधना के चेहरे की ओर निहार रहा था। मन कर रहा था कि कह दे—

"थोड़ा और साधना।"

किन्तु कह न सका समूचे साहस को बटोर कर भी। तभी करवट बदलकर बोला—

"साधना ! पता नहीं क्यों लगता है जैसे अन्दर ही अन्दर कुछ ऐसा हो रहा है जैसा इससे पूर्व मैंने कभी अनुभव नहीं किया।"

"फिर भी कैसा लग रहा है ?"

"कैसे बताऊँ ? पता नहीं कहाँ पढ़ा था कि—मनुष्य के जीवन में कभी-कभी ऐसी घड़ियाँ भी आती हैं जब वह अपनी अनुभूति को शब्दों में बाँध नहीं पाता। सो उसी सत्य को आज इन क्षणों में सम्पूर्ण रूप से अनुभव कर रहा हूँ, ऐसा मुझे लग रहा है।"

"हाँ जो इन क्षणों में आपके अन्दर उमड़-घुमड़ रहा है, सो कुछ-कुछ आपकी आँखों में भी उतरा आ रहा है।"

"साधना ! तुम समझ सकती हो क्या है ऐसा वह ? क्या है साधना ? बोलो !"

पहिली बार मैंने उसे 'तुम' कहा था। 'तुम' कहकर मैं हिचकिचा गया। तभी मैंने अति संकोच से कहा—"क्षमा करना। मैंने आपको तुम······।"

"वैसा मत सोचिये यही मानव का मानव के समक्ष सच्चा परिचय है और यही है उसकी अकृत्रिम मानवीय भाषा। 'एटीकेट्स' और 'मैनर्स' में मेरा विश्वास नहीं है नितिन बाबू ! हाँ, आप क्या पूछ रहे थे ?"

"मैं पूछ रहा था क्या देख रही हैं आप मेरी आँखों में ?"

"शत-शत धधकते ज्वालामुखियों से उठती ज्वालाओं का पुञ्जीकरण ! एक सर्वहारी ज्वाला !! बचपन में किसी लोहे के कारखाने में पिघलते इस्पात को देखा था। उसी की बरबस याद आ जाती है।"

मैंने रुँधे कण्ठ से कहा—"साधना !"

"नितिन बाबू, जी चाहता है आज एक क्षण के लिये भी न सोऊँ। रात भर आपके जीवन में ऐसा क्या-क्या घटा है जिसकी स्मृति लिये आँखों में ये ज्वालायें जल उठी हैं, सो वही सब कुछ बैठी सुनती रहूँ।"

"सुनाऊँगा, किन्तु पहिले तुम, उस दिन पाँच वर्ष पहिले की वह घटना सुना रही थी जिसका सम्बन्ध तुम्हारे गीतों से है। गाने के समय से है। क्या है वह रहस्य बता सकोगी ?"

"पहिले आप !"

"नहीं पहिले तुम !"

'अच्छा' मेरी तो छोटी-सी बात है और शायद आपको सुन

कर अच्छा भी न लगे। साथ ही डरती हूँ कहीं आप मुझे उस स्थान से उठाकर नीचे न फेंक दें जो अभी इन चरणों में दे रक्खा है।"

"साधना, मैंने कल झील में कहा था न! वैसा हीन मैं नहीं हूँ।"

"ऐसे रहस्यों को पूछने से पहिले सभी पुरुष ऐसा ही कहा करते हैं और जब किसी नारी के जीवन-रहस्य को जान लेते हैं तब समय-समय पर जिस प्रकार कोंचते हैं, उसका थोड़ा बहुत परिचय मुझे भी है।"

"विश्वास करो साधना, वैसी बात मेरे साथ नहीं होगी।"

"अच्छा सुनिये," कहकर वह थोड़ी देर चुप रहकर बोली—"उस समय मेरी उम्र वैसी ही थी जिसमें प्रत्येक लड़की पीले-सूखे पत्तों में भी कला-सौन्दर्य एवं कमनीयता सहज ही में देख पाती है। सारा विश्व और उसके अणु-अणु में बिखरे सौन्दर्य को देखकर वह सिहर उठती है। जीवन होता है उसके समक्ष मात्र मीठा सपना! रंगीन अति मनोरम।

पेड़, पौधे, पत्थर, सिर ऊँचा किये गगनचुम्बी पर्वत और झर-झर झरते प्रपात सभी लगते हैं जैसे अपने में कुछ रहस्य छिपाये हैं। उन रहस्यों को जान लेने के लिये वह छटपटाती रहती है।

नितिन बाबू, फिर एक दिन यौवन के महानद में बहती वह नारी छूती है पुरुष को, उसके—जीवन का वह प्रथम स्पर्श!!

नितिन बाबू! मैं आप पुरुषों की बात नहीं जानती अपनी अपने वर्ग की, उस युवती की बात जानती हूँ कि क्या होता है उसके उस प्रथम स्पर्श में!"....कहते-कहते वह चुप हो गई।

तभी मैंने कहा—"रुको नहीं, कहे जाओ साधना! कहे जाओ!!"

"नितिन बाबू ! जिस रहस्य को, जो बात जानने के लिये वह पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, पेड़-पौधों, पर्वत-प्रपातों से पूछती भटक रही थी, जो बात उनसे जान लेना चाहती थी, सो वह सब कुछ एक क्षण में पुरुष के प्रथम स्पर्श से ही स्पष्ट हो गया ।

समुद्र के निकट पहुँचते ही जैसे नदी का वेग रुक जाता है, जैसे सब कुछ शान्त हो जाता है। उन्माद मिटकर एक प्रकार का मधुरी भाव, तँद्रा, सरूर या जिसे हम मानव की मोहाच्छन्न अवस्था कह सकते हैं सो वही उस पर छा जाता है। उसमें गति, हलचल जैसा कुछ भी नहीं होता। मन सागर की भाँति निस्तब्ध-सा हो उठता है।

उस अवस्था में वह लड़की समझती है कि उसका मन सागर की भाँति शान्त हो उठा है। उसके जीवन के तूफान शान्त हो गये हैं जैसे उस पुरुष के प्रथम स्पर्श में उसको वह तूफान, उन्माद मिट गया है, धुल गया है और एक दिन अचानक ही मन के उस शान्त सागर में बड़वानल प्रगट होती है जिसकी आग में वह जल उठती है। जलती है बुझती है। जल-जलकर बुझती है। बुझ-बुझकर जल उठती है।" कहते-कहते उसने एक लम्बी उसाँस ली और चुप हो गई।

"क्या हुआ साधना ?"

"नितिन बाबू, अतीत की बात कहने में मात्र सुखी ही नहीं होता कभी-कभी मन अति विरस-सा भी हो उठता है। जी चाहता है किसी भाँति उन बीते क्षणों को खींचकर लौटा पाती किन्तु कौन लौटा सका है अतीत के उन सुखद क्षणों को ?"

"और यदि लौटा भी पाते तो शायद वे उतने सुखद, उतने मनोहर भी न लगते।"

"हाँ, ऐसा भी हो सकता है। शायद इसीलिये उस जग-न्नियन्ता ने मनुष्य को वैसी शक्ति देकर नहीं सिरजा। यदि ऐसा

होता है तो ये जो बड़े-बड़े काव्य लिखे गये जिन्हें पढ़-पढ़कर इतने वर्षों, युगों के बाद आज भी मानव की आँखें छलछला आती हैं सो शायद कभी न लिखे जाते।"

"हाँ साधना! तभी! तभी मानव अपने अतीत को याद कर सकता है। याद करके तड़प सकता है। छटपटा सकता है। उस अतीत में बिखरी उन सुख-दुख की स्मृतियां के 'शब्द-चित्र' 'रेखा चित्र' बना सकता है; किन्तु उन्हें जीवन में एक बार फिर लौटा नहीं सकता।"

"सच, यही बात है नितिन बाबू! लेकिन फिर भी मन तो यही करता है कि उन क्षणों को लौटा सकने की शक्ति पाकर ही मानव इस धरती पर पैर रखता! किसी प्रकार कैसे भी·······!" कहते-कहते उसका गला रुँध आया।

तभी मैंने उससे कहा—"और साधना उस अभागे के लिये क्या कहा जाये जिसके जीवन में ऐसा क्षणिक सुख (The pleasure that abideth for a moment) कभी आया ही न हो।"

"नितिन बाबू, ऐसे अभागे के लिये, उसके ऐसे दुर्भाग्य के लिये, उसके मन में घुमड़ती उस व्यथा के लिये, जिस व्यथा को अनुभव करने का उसे परिज्ञान भी है, उसके उस दुर्भाग्य, उस यंत्रणा की तीव्रता को व्यक्त करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। मैं तो समझती हूँ मानव की आज तक विकसित भाषा में भी शब्द नहीं होंगे, जो उस अभागे की उस अन्तर्व्यथा की झलक भी दे सकें।"

"हाँ साधना! तभी तो जब शब्द उस प्रकार के भाव को प्रगट करने में हार मान बैठते हैं तब चित्रकार अपनी तूलिका लेकर अपनी कला में डूब जाता है और उस पीर की अभिव्यक्ति होती है तूलिका द्वारा अंकित रेखाओं में, कवि के काव्य में, और

गायक के कंठ से निकली तानों में, कंपन में," कहते-कहते मेरी आँखें छलछला आईं। मैं चुप हो गया।

मुँह फेरकर चुपचाप अपने आँसू पोंछ लिये; फिर गला साफ करता-सा बोला—"हाँ साधना फिर.......!"

"हाँ, क्या कह रही थी मैं? हाँ, तो वैसी किशोरावस्था और यौवन की संधि रेखा पर मैं खड़ी थी।

ऐसे ही समय वह मेरे जीवन में आये थे। उनका नाम था, विपिन। उनके चारों ओर, उनमें एक ऐसा आकर्षण था जिसकी कोई भी उपेक्षा न कर सकता था। कभी भावुकता के आवेश में जब उनका गला भर आता था, तब लगता था जैसे वीणा के मन्द तार झनझना उठे हैं।

वे भी आप ही की तरह लिखते थे, गाते थे, कवि थे, लेखक थे—विनम्र और शिष्ट भी ठीक आप ही की भाँति।

नितिन बाबू, कहते मुझे संकोच होना चाहिये किन्तु न जाने क्यों आप साधारण पुरुष जाति से कुछ भिन्न, कुछ अलग से, कुछ ऐसे लगते हैं जिनके सामने कुछ भी अच्छा बुरा कहते संकोच नहीं होता।"

उसके मुँह से अपने प्रति कहे गये उन प्रशंसा के दो शब्दों को सुनकर लगा जैसे किसी ने उठाकर मुझे सामने खड़ी गगन-चुम्बी पहाड़ी की चोटी पर जा बिठाया है। मुझे लगा जैसे अपनी आँखों में इतना ऊँचे उठने की अनुभूति मुझे कभी नहीं हुई।

तभी वह बोली—"नितिन बाबू, और अब नारी की सबसे बड़ी कमजोरी के बारे में मैं कह रही हूँ। नारी हृदय के उस मर्म-स्थल की बात, जिसे छूते ही वह अवश्य ही झुक आती है।"

फिर हँसते-हँसते बोली—"लेकिन नितिन बाबू, उसी अस्त्र का प्रयोग करके कहीं आप भी मुझे ठग न लेना।"

"निश्चिन्त रहिये वैसी प्रतिभा मुझ में नहीं है फिर कुछ भी नई बात सीखने के लिये उसी दशा में किये गये पूर्वाभ्यास की भी तो आवश्यकता पड़ती है। जैसे दूसरे के कंठ से निकलती तानों को गायक क्षण भर में सीख लेता है उन्हीं तानों को संगीत से अनभिज्ञ व्यक्ति वर्षों में नहीं सीख पाता। ठीक है न ?"

"हाँ, सो तो ठीक है, किन्तु संसार में कुछ ऐसी बातें भी होती हैं नितिन बाबू! जिनके सीखने में न तो पूर्वाभ्यास की आवश्यकता पड़ती है और न सीखने का प्रयत्न ही करना पड़ता है। मात्र मन में उसे समझ लेने की भूख होनी चाहिये। अच्छा, जाने दीजिये उस बात को।

क्या कह रही थी मैं ? हाँ, नारी-हृदय के मर्मस्थल की बात। नितिन बाबू, वैसे अपनी प्रशंसा किसी को भी बुरी नहीं लगती यहाँ तक कि एक पुचकार भरी थपकी के साथ कहे गये 'शाबाश, बेटे !' को सुनकर अपने प्राणों की चिन्ता बिना किये घोड़ों को बड़े-बड़े नाले कूदते देखा है। ठीक यही बात नारी-हृदय की।

किसी पुरुष के मुँह से उसकी प्रशंसा में कहे गये स्नेह-भरे दो-शब्द सुनकर वह पानी-पानी हो उठती है, फिर यदि वे शब्द उस पुरुष के द्वारा कहे गये हों जिसे मन-ही-मन वह सब कुछ दे बैठी है, तब जो कुछ होता है सो आप पुरुष होकर नहीं समझ सकते। हाँ, कुछ कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

मैं तो कहती हूँ कि नारी के पतन की कहानी का आदि ही यहीं है और अन्त होता है उसी पुरुष की 'उपेक्षा' में।

यह सोच-सोचकर मैं आत्म-प्रवंचना से मन ही मन जल उठती हूँ कि कई बार ठगे जाने पर भी पुरुष के उसी अस्त्र से जीवन में जाने कितनी बार ठगी गई हूँ, और जाने कितनी बार आगे भी ठगी जाऊँगी। नितिन बाबू, शायद यही प्रत्येक नारी के जीवन में घटा करता है।

"साधना, यदि यही बात सच होती तो नारी के संयम की कहानी, उसके पतिव्रत के उस ऊँचे आदर्श की बात, उसके उस एकव्रत के लिये आप क्या कहेंगी ?"

"नितिन बाबू, इस 'एकव्रत' के खोखलेपन का रहस्य जानती है, मात्र नारी। उस व्रत को निभाने के लिये उसने जाने कितने व्रतों, उपवासों एवम् अनुष्ठानों का आविष्कार किया है, किन्तु जब वे क्षण आते हैं तब या तो वह पुरुष के कंधों पर झुक जाती हैं या उस व्रत को निभाने के लिये गले में फाँसी लगाकर आत्म-हत्या कर लेती हैं।"

तभी मेरे मुँह से निकल गया—"हे भगवान्! क्या ऐसा भी होता है ?"

"मेरे पिताजी ने 'भारतीय समाज में नारी का स्थान' पर थीसिस लिखी थी और उसका डेटा (Data) इकट्ठा करने के लिये उन्हें इस देश के कई चक्कर लगाने पड़े थे। झोंपड़ी से लेकर महलों तक उन्होंने नारी को निकट से देखा था। दक्षिण की देव-दासियों से लेकर नारी-विक्रय के अड्डों तक का गहराई से अध्ययन किया था। नितिन बाबू, मेरे पिता जी चाहते थे कि उनकी बेटी जीवन को निकट से अपनी आँखों से देखे ; सो कभी-कभी उन अड्डों में भी मुझे अपने साथ ले जाते थे।

नितिन बाबू, यदि इस सत्य को समझना हो तो आप जाइये मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग और बनारस जैसे तीर्थ स्थानों में जहाँ वय-सन्धि की रेखा पर खड़ीं, उन अभागी युवतियों के झुँड के झुँड नारी-विक्रय के अड्डों में सड़ते हुये, तिल-तिलकर गलते हुये मिलेंगे। वे वही भारतीय तप-भ्रष्ट ललनायें होंगी जो सम्भ्रांत परिवारों से मृतपति के प्रति अपने कठिन एकव्रत को न निभा सकी थीं और सब से बड़े आश्चर्य की बात यह है कि नारी की उस सामर्थ्य-शक्ति को आज भी पुरुष-समाज नहीं समझ पा रहा

है। आज भी उन्हें उसी संयम की भारी गाड़ी को खींचने के लिये विवश किया जा रहा है जिसे खींचने की शक्ति उनमें कभी नहीं रही; किन्तु पुरुप ने अपने लिये सब ओर से द्वार खोल रखे हैं।"

"सो कैसे साधना ?"

"आपके शास्त्रों, धार्मिक, साहित्यक एवं सांस्कृतिक ग्रन्थों, पुराणों और आख्यायिकाओं में यही तो भरा पड़ा है। जाने कितनी नारियों के साथ एक समय में प्रणयलीला करने वाले दशरथों और कृष्णों की विरुदावली ही तो गाई गई है। इस प्रकार के आदर्शों का आविष्कार करके अपनी कमज़ोरियों और असंयम को छिपाने के लिये पुरुप ने कितने बड़े दम्भ का आविष्कार किया है; सो देखकर कभी-कभी पुरुप जाति के प्रति मन घृणा से भर उठता है।

सोचती हूँ किसी प्रकार उस दम्भ और नारी के सम्बन्ध में की गई एकव्रत की कल्पना, शास्त्रों-पुराणों में भरे उस महा-असत्य को चीख-चीखकर समाज के सामने खोलकर रख दूँ। पुरुप जाति की आँखों में अंगुली डालकर उन्हें बता दूँ कि जिसे वे आज तक परम, चिरन्तन शाश्वत सत्य! मानते आये हैं, उससे बड़ा असत्य इस धरती पर कोई नहीं हो सकता।" कहते-कहते वह हाँफने-सी लगी।

फिर कुछ देर बाद शान्त होकर बोली—"नितिन बाबू, पति-व्रता, देवी, घर की रानी, सती जैसे जाने कितने चाटुकारी भरे शब्दों का आविष्कार करके, पुरुप ने जिस प्रकार किसी युग में नारी को भेड़-बकरियों की भाँति मृतपति के साथ बाँधकर आग की लपटों में जलने के लिये झोंक दिया था, सो सब याद करके कभी-कभी तो मुझे लगता है कि इस पुरुप कहे जाने वाले दम्भी अभिमानी प्राणी का बीज नाश कर डालूँ; ठीक उसी प्रकार जैसे जाने किस व्यथा एवं आत्म-पीड़न के कारण तपस्वी परशुराम ने

किसी समय क्षत्रिय वंश का नाश किया था।"

कहते-कहते उन उजली तरल आँखों में ज्वाला जल उठी। साधना का वह नया रूप देखकर मैं उठकर सीधा बैठ गया। और धीरे से कहा—"साधना, अपनी उस रोमान्स की कहानी से छिटककर कहाँ की कहाँ जा पड़ी ?"

साँस रोककर अपने को कुछ सन्तुलित-सा करती वे बोलीं—"नितिन बाबू, मैं ऐसी ही आत्मदाह की आग में पड़ी दिन-रात झुलसती रहती हूँ, जिसमें न जल पाती हूँ, न बुझ पाती हूँ।

हाँ, मैं कह रही थी विपिन बाबू ने मेरे उसी मर्मस्थल को ऐसे क्षणों में छू लिया कि मैं अपनी उस दुर्निवार कामना पर किसी भी प्रकार काबू न पा सकी।

हम दोनों वहाँ बैठे थे, जहाँ पावन-गंगा सागर की बाहों में आत्म-समर्पण करती है। मैंने गीत गाया था। उन्होंने वंशी बजाई थी। मेरे गीत की तानों को उन्होंने वंशी के छिद्रों से फूटते स्वरों में जिस प्रकार भर लिया था, जिस प्रकार मेरे कंठ से निकले गीत के बोल वंशी की व्यथाभरी मीड़ों में घुल-मिल गये, सो जानकर मुझे लगा जैसे इस धरती से दूर, बहुत दूर किसी ऐसे देश में जा बैठी हूँ जहाँ हैं विपिन बाबू और मात्र मैं। विपिन बाबू का सान्निध्य, सागर की गोद में मुँह छिपाती गंगा ! एकान्त संगीत और चाँदनी रात !" कहते-कहते वे चुप हो गईं। फिर बोलीं—"नितिन बाबू, अपना सब कुछ मिटा डालने के लिये इससे अधिक और क्या चाहिये और वैसे क्षणों में पहली बार उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथों में ले लिया।

जिसके प्रति मेरे हृदय में उमड़ता प्यार छलक-छलक उठता था—उसी के उस स्पर्श को मैं किसी भी प्रकार न सह पाई।

जी चाहता था विपिन बाबू के उस चौड़े वक्षस्थल पर अपना सिर रखकर चिपक जाऊँ। सागर में मिलती गंगा की

भाँति घुलमिल जाऊँ। अपने व्यक्तित्व को मिटाकर उनसे एकाकार कर लूँ, किन्तु फिर भी अपनी शिक्षा, संस्कार के सहारे मैं गिरी नहीं, झुकी नहीं। मैं टिकी रही···लड़खड़ाती-सी, काँपती, सिहरती-सी किन्तु·······।" कहते-कहते साधना की आँखें छलछला आईं।

मैंने अति आर्द्र कण्ठ से कहा—"रुको नहीं साधना, कहे जाओ।"

और वे आँखों में उमड़ते आँसुओं को आँखों की पुतलियों में ही पीती हुई बोलीं—

"नितिन बाबू, तब उन्होंने उस अस्त्र को उठाया जिसे आज तक कोई नारी नहीं सह सकी, जिसे कोई आज तक न सहार पायी।

तभी विपिन बाबू रुँधे कण्ठ से आँखों में आँसू भरकर बोले—'कब तक सहे जाऊँ? अब नहीं सहा जाता। इस अपार-सीम व्यथा से तो मृत्यु के दारुण दंशनों की यन्त्रणा कहीं अधिक सुखकर होगी साधना। और कब तक तुम इसी प्रकार मुझे जलाये जाओगी। कब तक? साधना कब तक?'

कहते-कहते वे मुझे अपनी ओर खींचने लगे और मैं "नहीं, नहीं!! सो नहीं होगा विपिन बाबू।" कहे जा रही थी।

उन्होंने मेरा हाथ छोड़ दिया। अपनी उस पकड़ को इस तरह धीरे-धीरे ढीला किया जैसे मृत्यु से पूर्व मरने वाला प्रेयस हाथ में थामे अपनी प्रेयसी का हाथ छोड़ देता है।

उस प्रकार के उस बंधनमुक्त हुये हाथ को अपने गालों पर रखकर मैं ज़ोर से दबाने लगी और फिर अपने उसी हाथ को जो कितनी देर से विपिन बाबू की हथेली में दबा-दबा गर्म हो गया था, उसे उनकी आँखों से छिपाकर मैंने वहाँ रख लिया जहाँ·······।" कहते-कहते वह लाज के मारे लाल हो गई।

मोमवत्ती के प्रकाश में जिस प्रकार उन्होंने सिर झुका लिया, जिस भाँति वे लजा गईं, सो देखकर मैं सिहर उठा।

कुछ देर चुप रहकर बोलीं—"विपिन बाबू चोट खाये पत्ती की भाँति कराह उठते थे। उनके गले से निकली व्यथा-भरी अस्फुट आहों को सुन सुनकर मैं मरी जा रही थी।

तभी कांपते कंठ से मैंने कहा—"विपिन बाबू, ऐसा मुझ में क्या है जिसके लिये आप इतने दुखी होते हैं?"

सुनकर वे कुछ देर चुप रहे फिर भर्राये कंठ से बोले—"बस साधना बस! अब मुझे मेरे हाल पर रहने दो। जैसे भी होगा सहूँगा और जब न सहा जायगा तब……!" कहते-कहते उनकी हिचकी बँध गई।

यह सुनकर आपको आश्चर्य होगा नितिन बाबू, तब भी अपने को रोके पाषाण प्रतिमा-सी मैं बैठी रही। चुपचाप उनकी आँखों से बहती आँसुओं की अविरल धारा को निर्निमेष बैठी-बैठी देखती रही।

तभी मैंने उनकी ओर देखते हुये कहा—"आप में ऐसी पाषाण-हृदया साधना कहीं छिपी बैठी है सो ऊपर से देखने में तो नहीं लगता।"

"नितिन बाबू, हर समझदार लड़की को ऐसा ही होना पड़ता है और होना भी चाहिये। आप लोगों ने असंख्य खिलते सजीव कुसुमों को 'सती' की संज्ञा देकर पुरुष के शव के साथ बाँधकर जीवित भस्म कर डाला और न जाने कितनों को ऐसी ही भूल पर जीवित जन्म भर अपमान और उपेक्षा की भट्टी में जलने के लिये छोड़ दिया जाता है। उन्हीं को तो आज रूप के बाजारों में दिन रात बेचा जा रहा है।"

"नितिन बाबू, जो युवती भाव-प्रवण हो, जिसके साथ शिक्षा-संस्कार हों और यदि वही अपने जीवन में कभी इसी प्रकार

की छोटी-सी भूल कर बैठे, फिर घर की सीमा से, सम्भ्रान्त समाज से अपने प्रियजन कहे जाने वाले आत्मीयों द्वारा ही उस 'रूप का बाजार' कहते जाने वाले नर्क में जीवन भर घुट-घुटकर मर मिटने के लिये फेंक दी जाये तो उस अभागिनी की अन्तर्व्यथा को उस सर्वहारी अन्तर्दाह को आप समझ सकेंगे ?"

सुनकर मुझे लगा जैसे किसी ने मेरे मुँह पर, मुझ पुरुष के मुँह पर कसकर चाँटा मारा हो।

मैं जीवन में एक-दो बार उस रूप बाजार में गया हूँ। रूप का सौदा करने नहीं केवल पुरुष द्वारा नारी पर की जाने वाली पशुता को देखकर मन में घृणा भरने के लिये; किन्तु रूप बाजार में बैठी उस नारी के सम्बन्ध में इस प्रकार के दृष्टिकोण से मैंने कभी न सोचा था।

तभी वे बोलीं—"नितिन बाबू, ऐसी नारी अपनी उस अन्तर्व्यथा को, उस अन्तर्दाह को जिसमें दिनरात वह जलती रहती है उसी को शान्त करने के लिये जब किसी पुरुष से उस जाति के प्राणी से जिसके कारण वह उस नर्ककुण्ड में जा पड़ी है, बदला लेती है तब समाज उस अत्याचार की कहानी कहते थकता नहीं; लेकिन पुरुष होकर आप नहीं समझ सकते कि उस प्रकार के प्रतिशोध में उस अभागिनी को कितनी तृप्ति मिलती है।"

वह कहे जा रही थी कहते-कहते उसकी आँखों में ऐसी ज्वाला-सी फूट उठती थी जिसे देखकर कभी-कभी मैं काँप उठता था।

वह कहे जा रही थी और मैं हतबुद्धि-सा सोच रहा था—इस प्रकार की अनुभूति, उस प्रकार की तीव्रता इस नारी में कैसे है ? क्यों है ? यह परानुभूति तो नहीं लगती। ऐसी स्वानुभूति इस कुमारी बालिका के जीवन में कैसे हो सकती है ?

बहुत चाहा कि उस बात को भली-भाँति जान लूँ किन्तु कुछ पूछने का साहस मैं किसी भी प्रकार न कर सका।

वह कुछ संयत होकर बोली—"हाँ, तो विपिन बाबू के उन आँसुओं को मैं किसी भी प्रकार न सह पा रही थी। तभी विपिन बाबू ने कहा—

"साधना! जिसके लिये महीनों से रात-रात भर जगकर मैं अम्बर के तारे गिनता रहा। जिसके लिये रो-रोकर मैंने पहाड़-सी काली रातें काटीं, जिसके अभाव में मैं सब कुछ त्याग बैठा वही जब मुझ से पूछे कि ऐसा मुझ में क्या है जिसके लिये आप इतने दुखी होते हैं—तब लगता है किसी पत्थर पर अपना सिर पटक-पटककर अपने प्राण दे दूँ। साधना! तुम में मैंने पाया है अपने विगत जीवन में देख मधुर स्वप्नों को साकार होते हुये। तुम में पाया है वह, जिसको पाने के लिये मेरी आत्मा युग-युगों से भटकती आ रही थी। तुम में पायी है मैंने अपने समस्त अभावों की सम्पूर्त्ति। तुम्हारी एक 'हां' और 'ना' का मेरे लिये क्या अर्थ होता है सो सोचकर देखा है कभी? सोच भी पाओगी?

और तभी मुझे याद आया एक दिन उन्होंने अति करुण कंठ से अपनी एक कविता सुनाई थी। उसका ठीक-ठीक अर्थ मैं उस दिन समझ पाई थी वहाँ, जहाँ गंगा सिमटती-सी सागर की गोद में चुपचाप अपना अस्तित्व मिटाने के लिये बढ़ी जा रही थी।

तभी मैंने पूछा—"साधना, वह कविता याद है तुम्हें?"

"नितिन बाबू, सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा कि महीनों, वर्षों के सान्निध्य के बाद जो कविता विपिन बाबू ने मेरे लिये लिखी थी वैसी ही कविता एक क्षण के लिये भी मेरे सम्पर्क में आये बिना, मात्र मेरा गीत सुनकर आपने लिख डाली है। यदि कुछ शब्दों का हेर-फेर कर दिया जाये तो दोनों कविताओं में तनिक भी अन्तर नहीं रहता।

उस रात आपकी कापी में जब मैंने वह कविता पढ़ी तो जी चाहा कि उसी समय दौड़ी-दौड़ी आपके पास आऊँ और पूछूँ कि

वह कविता किसी दूसरे की रचना है या आपकी मौलिक कृति ! किन्तु तभी मुझे याद आया—

Great men think alike.

और मैं चुपचाप बैठी बार-बार उस कविता को पढ़ती रही थी। उस एक कविता को लेकर ही मैं आपसे मिलने के लिये आतुर हो उठी थी।"

मैं सोचने लगा—पुत्र की उसके पिता के लिये, और कवि एवं लेखक के लिये उसकी कृति के सम्बन्ध में की गई प्रशंसा का क्या अर्थ होता है, सो मैं अच्छी तरह जानता हूँ और शायद हर पिता और लेखक एवं कवि इस सत्य को भली-भाँति समझता है, किन्तु फिर भी वैसी ही प्रशंसा सुनकर उन्हें मूर्ख बनते भी मेरी इन आँखों ने कितनी ही बार देखा है।

सो यह सत्य याद आते ही मैं संभल गया और चुपचाप निरपेक्ष भाव से उस नारी को देखने लगा।

वह कहे जा रही थी—"नितिन बाबू , आप पूछते हैं कि वह कविता मुझे याद है ? याद नहीं बल्कि यूँ कहिये कि इस बात को आज पाँच वर्ष बीत गये हैं फिर भी दिनरात, चौबीस घण्टों में जाने कितनी बार उन पंक्तियों को मैं मन ही मन दुहरा ती हूँ। कविता इस प्रकार थी—

एक तुम्हारी 'हाँ' रच देती, मेरा सोने का संसार।
एक तुम्हारी 'ना' सुन बाले ! मचता उर में हाहाकार॥
हास तुम्हारे अधरों पर है, मेरी आँखों में जलधार।
'हास' 'रुदन' इस 'हाँ' 'ना' को क्यों—
मान लिया है मैंने प्यार ?

आपकी बात ही मैं दुहरा देती हूँ कि छन्द-शास्त्र की दृष्टि से चाहे इन पंक्तियों का कोई मूल्य न हो किन्तु नितिन बाबू ! इस छोटी-सी कविता के शब्द-शब्द में जो दर्द, पीर और जैसी कसक

एवं तन्मयता भरी है सो बहुत कम पढ़ने को मिलती है या यों कहिये कि कविता मेरे लिये लिखी गई थी इसलिये पर्सनल होने के नाते ही मुझे अच्छी लगी थी। कुछ भी हो मुझे बहुत पसन्द आई थी।

विपिन के यह कहने पर कि "तुम्हारी एक 'हाँ' और 'ना' का मेरे लिये क्या अर्थ हो सकता है सो सोचकर देखा है कभी?" मुझे 'हाँ' 'ना' शीर्षक से सुनाई उनकी कविता याद आगई।

और यह सुनकर कि मुझे उन्होंने अपने हृदय में कितना ऊँचा स्थान दे रखा है। उनके द्वारा छोड़े इस अस्त्र को मैं किसी भी प्रकार न सह सकी। नितिन बाबू, अपने को किसी भी प्रकार न संभाल सकी।

मैं उनकी ओर सरकती गई यह कहते हुये कि "विपिन बाबू! मेरे लिये आपने कितना दुःख उठाया है? कितना······।" मैं उनकी ओर झुकती गई। मैंने अपनी एक बाँह उनकी कमर में लपेट ली और दूसरी उनके गले में डालकर सीत्कार-सा करती बोली—"विपिन बाबू, बचा लेना मुझे, मैं डूबी जा रही हूँ।" कहते-कहते साधना सुबक उठी। कुछ देर बैठी हवा में काँपती मोमबत्ती की उस ज्योति शिखा को जो कमरे में जल रही थी, देखती रही। फिर उसी ओर देखते-देखते बोली—"और नितिन बाबू! मैं इस मोमबत्ती की भांति ही बुल गई, सदा सदा के लिये बुझ गई।"

मेरी पावनता, मेरा कौमार्य कुछ क्षणों में ही खंडित होगया। विपिन बाबू ने मुझे बचाया नहीं। जब मैं डूब रही थी तब धक्के मार-मारकर मुझे डुबाने का ही उन्होंने प्रयत्न किया था। उन्माद के उस पारवार से उबारने के लिये एक बार भी मेरा हाथ नहीं पकड़ा। उन्होंने पकड़ा था मेरा सिर यौवन के अतल सागर में डुबो देने के लिये।"

तभी मैंने कहा—

"साधना, इस बात को इतने एकांगी दृष्टिकोण से तुम क्यों लेती हो? क्या यह नहीं हो सकता कि उस पारावार से उबरने में, ऊपर उठने में जैसे तुम असमर्थ रही उसी प्रकार विपिन बाबू भी अपने को न संभाल पाये हों। क्या ऐसा नहीं हो सकता?"

"हाँ, सो तो हो सकता है किन्तु उसके बाद विपिन बाबू ने जिस प्रकार आम की चूसी हुई गुठली की भांति मुझे एक ओर फैंक दिया, सो उसे मैं क्या समझू? उस 'उपेक्षा' की दारुण व्यथा, अहित अपमान की उस चोट को मैं किसी भी प्रकार नहीं सह पा रही हूँ।"

"किन्तु तुम्हारे उन गीतों और उनके गाये जाने वाले उस निश्चित समय का इस घटना से क्या सम्बन्ध है?"

"वही तो सब सुनाने जा रही हूँ।"

"अच्छा!"

वे अति संयत स्वर में बोली—"नितिन बाबू, ऐसे व्यक्ति से घृणा ही करनी चाहिये। मेरी जैसी भावुक लड़कियों को फाँसने, उन्हें नष्ट करने के लिये वह अपने समस्त गुण, ज्ञान, परिज्ञान, संगीत और काव्य का सहारा लेता था। वह अपने शिकार को मगर की भाँति निगलकर उसका अन्त नहीं करता था; वह दक्षिण प्रदेश में पाये जाने वाले एक सर्प की भाँति पहिले सूँघता, फिर डसता था। फिर जीवन भर विप की उस ज्वाला में जलने के लिये उस अभागे प्राणी को छोड़ देता था। उस सर्प के दंशन के बाद कई बार शरीर में फोड़े उठते हैं, पकते हैं, फूटते हैं और इस प्रकार रोग से ग्रस्त प्राणी जीवन भर उन फोड़ों के दर्द से तड़पता है, छटपटाता है और अन्त में एक दिन अपने प्राण ही दे देता है। ऐसा था वह संपोला-मानव।"

"सो, उसी प्रकार के सर्पद्वारा दंशित-सी मैं भी भटक रही हूँ।

विपिन बाबू से घृणा मैं इतनी करती हूँ कि मानव के इतिहास में, इस भूतल पर शायद ही किसी ने की हो किन्तु पता नहीं कब मनोविज्ञान की किसी पुस्तक में पढ़ा था कि—मानव की घृणा और प्रेम के बीच अति पतली रेखा होती है। अति घृणा के नीचे प्रेम और उसके अति प्रेम में कहीं न कहीं घृणा घुली-मिली रहती है। शायद इसीलिये अपने पतन के उन क्षणों से, उस समय के उस देवता से अभिशप्त-सी मैं उसी समय गीत गाती हूँ जिन क्षणों में मेरे पतन की कहानी लिखी गई थी। और वही गीत गाती हूँ जो विपिन बाबू को बहुत प्रिय थे।" कहते-कहते वे अर्ध-उन्मीलित आँखों से खिड़की की ओर देखने लगी।

सुनकर मैं आश्चर्य के मारे आँखें फाड़े साधना की ओर देखने लगा।

तभी कुर्सी की पीठ का सहारा लिये तन्द्रिल-सी बोली—
"और नितिन बाबू, उस रात मैंने गाया था यही गीत—

"हेरी मैं तो प्रेम दिवानी—मेरा दर्द न जाने कोय।"

कहते-कहते उनकी आँखें छलछला आईं फिर न जाने क्यों उस कुर्सी से उठकर वहाँ जा बैठी जहाँ उस मेज़ पर शमाँ जल रही थी। वे मेज़ पर सिर टिकाकर हिचकने लगीं।

मैं स्तब्ध-सा उस रोती, हिचकती लड़की को देख रहा था। तभी मैंने देखा कहीं से उड़ता-उड़ता एक पतंगा आया। वह शलभ बार-बार उस दीप शिखा की ओर आता था और बाल-बाल बच जाता था।

जाने क्यों जब वह पतंगा उस शमाँ की ओर जाता था तो मेरे प्राण काँप उठते थे। जाने कितनी बार वर्षा के दिनों में लक्ष-लक्ष पतंगों को इसी प्रकार दीये की ज्योति में जलते देखा है। कितनों को बिना पंख के बिलबिलाते देखा है; किन्तु कभी भी मेरे मन में उनके लिये ऐसी ममता नहीं जागी। सोचने

लगा—इस एक पतंगे के प्रति ऐसा ममत्व मुझ में क्यों जाग उठा है ?

उस समय की मेरी उस मनोदशा को जानकर कोई हँस सकता है और शायद मेरी उस बात पर विश्वास भी न करे किन्तु हुआ यही था—

उस पतंगे की प्राणरक्षा करने के लिये मैं घबराता-सा उठा किन्तु उसे बचा न पाया। जब तक मैं उस जलती मोमबत्ती के पास पहुँचा तब तक वह उस शिखा में झुलसता वहीं गिरकर छटपटाने लगा। उसके पंख जल गये थे। एक अधजला पंख उसकी गिलगिली पीठ से चिपका था।

वह अभागा पतंगा ! मृत्यु-यन्त्रणा से काँपता वह शलभ ! वहीं पड़ा बिलबिला रहा था जहाँ वह हतभागिनी दीर्घ निश्वासें छोड़ती सिर टिकाये पड़ी थी।

मैं सोचने लगा—यह लघु कीट ? और इतनी बड़ी शक्ति लेकर जलने वाली यह नारी ! दोनों एक ही प्रकार की व्यथा में पास-पास पड़े छटपटा रहे हैं—

यह कीट ! और वह नारी !!

६

मैं वहीं एक-सी व्यथा में तड़पते दो प्राणियों के निकट खड़ा था। थोड़ी देर में उस अभागे कीट ने प्राण त्याग दिये। सोचने लगा—पता नहीं भगवान् के उस राज्य में इस कीट के लिये स्वर्ग-नर्क की व्यवस्था है या नहीं किन्तु यह नारी जो अपने जीवनकाल में ही स्वयं को नर्क जैसी यन्त्रणा में जलाये जा रही है, सो मैं इसके लिये क्या करूँ ?

कभी-कभी लम्बी सिसक से उसका सिर हिल उठता था। उसके बिखरे बालों से उठने वाली भीनी-भीनी गन्ध से मेरे रोम-रोम में एक प्रकार की कँपकँपी-सी हो उठती थी।

जी चाहता था उसके उन सुवासित केशों को हाथ में लेकर सुलझाते-सुलझाते उससे कह दूँ—उठो साधना! अतीत के दुख में वर्तमान को क्यों खोये दे रही हो आओ बैठकर अपने जीवन की कुछ सुख-दुख की बातें करें और दुःख की व्यथा को भुला दें।

कितनी बार उसके उन बालों को छूने के लिये मैंने हाथ बढ़ाये किन्तु किसी भी प्रकार उस प्रकार का साहस न कर सका। तभी मैंने देखा वह अपनी हाथों की मुट्ठियाँ भींचती, अपना सिर ढीला-सा करती एक ओर को झुकने लगी। मैंने उसके सिर पर हाथ रखकर काँपते कण्ठ से कहा—"साधना! उठो!! सुनो!!"

सुनकर साधना ने मुट्ठियाँ खोल दीं और तनती-सी उठ बैठी। उठते-उठते बोली—

"क्षमा करें नितिन बाबू, मैंने व्यर्थ ही आपको कष्ट दिया। मैं नहीं जानती थी आप यहाँ आ खड़े हुये हैं। आपको उठना नहीं चाहिये।" कहते-कहते वह उठी और मेरा हाथ थामे मुझे मेरी चारपाई की ओर ले गई। वहाँ कंधे पर हाथ रखती बोली—"बैठिये! आप कब से वहाँ खड़े थे?"

मैंने बैठते-बैठते कहा—"अभी-अभी उधर गया था।"

जब मैं चारपाई पर लेटने लगा तो साधना ने सँभालकर सिर के नीचे तकिया रख दिया। रजाई से गर्दन तक उढ़ाकर पैर के नीचे रजाई दबा दी। फिर चुपचाप चारपाई के पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गई।

मेज़ पर रखी मोमबत्ती प्रायः जल चुकी थी। साधना ने उठ कर दूसरी मोमबत्ती जला दी। फिर अपनी जगह पर आकर ओठों पर उदासी भरी मुस्कान बिखेरती बोली—

"नितिन बाबू, जलकर बुझ जाने वाली एक शमाँ की कहानी मैंने सुनाई थी। अब देखिये दूसरी शमाँ जल गई है। अब आप अपनी सुनाइये। सुनायेंगे?"

"साधना, तुम्हारे जीवन की उस दुर्घटना को सुनकर अब कुछ भी कहने सुनने को मन नहीं कर रहा है।"

उसने धीरे से मेरे माथे पर हाथ रखकर कहा—"चलिये सुनाइये! मैं आपका सिर दबाती रहूँगी।"

मैं उसके उस आग्रह की किसी भी प्रकार उपेक्षा न कर सका।

मैं कहने लगा—"साधना, मैं अभिमान नहीं करता, किन्तु जो बात सच है वह बिना कहे रहा भी नहीं जाता। जो मानव श्रीनगर के उस हाऊसबोट में पड़ा चुपचाप कविता कहानी लिखता है, जो रो-रोकर अपनी विथा को गीतों में बहाता है वह मैं नहीं हूँ। 'मैं' जिसे संसार 'नितिन' के नाम से जानता है। वह

Bharat Bhushan Dhar
B.Sc (Hons)
70-72

मेरा व्यक्तित्व (self) इस रोने वाले व्यक्तित्व से बिल्कुल भिन्न था।

मनोविज्ञान में ऐसे दो व्यक्तित्व वाले व्यक्ति को अभागा कहा गया है। जानती हो?

"हाँ, जानती हूँ।"

"विना जाने छोड़ा कुछ भी नहीं है?"

"हाँ यूँ ही। थोड़ा वहुत।"

"तो साधना, जीवन की विपम परिस्थितियों, वड़े-बड़े संघर्षों और संकटों में भी जब जीवन और मृत्यु के वीच मात्र पतली रेखा ही शेप होती थी तव भी कभी किसी ने नितिन की आँखों में आँसू नहीं देखे। आँसू को वह संसार की सबसे बड़ी कमज़ोरी मानता था। 'आँसू' उसके आहत व्यक्तित्व के लिये सबसे वड़ी ललकार थी। आँसू सदा उससे पराजित रहे। कभी उसकी आँखों की सीमा पार न कर सके।"

"वह अपने चारों ओर 'फौलादी जवान' 'इस्पाती मानव' के नाम से जाना जाता था। जिसकी ओर उसकी भृकुटी तन जाती थी उसके प्राण काँप उठते थे। उस इस्पाती मानव के अवशिष्ट चिन्ह अब भी कुछ शेष हैं।" कहकर नितिन ने अपनी बाँह से कुर्त्ता हटाया। उस बाँह को तानकर साधना की ओर बढ़ाया।

साधना विस्फारित नेत्रों से नितिन की उभरी हुई उन माँसपेशियों को देखने लगी। तभी वह वोला—"नारी के सामने अपने पौरुष की बात कहना, अपने को अति हीन वना लेना है। फिर भी मैं चाहता हूँ कि उस फौलादी नितिन के कुछ प्रमाण देकर ही उसकी कहानी प्रारम्भ करूँ।" कहते-कहते नितिन उठा और खिड़की में लगी लोहे की उन मोटी शलाकाओं को पकड़कर दबाया। वे लोहे की मोटी शलाकाएँ मोम की भाँति मुड़ गईं। उन मुड़ी

हुई शलाकाओं को खींचकर पूर्ववत् रूप में ले आया फिर चुपचाप आकर चारपाई पर लेट गया।

उन मोटी शलाकाओं को मोम की भाँति मुड़ते देखकर साधना का मुँह दीप्त हो उठा। वह अति भावुकता पूर्ण मार्मिक-दृष्टि से नितिन बाबू की ओर देखते-देखते बोली—

"अब सुनाइये न नितिन बाबू।" कहते-कहते उसकी वे अंगुलियाँ नितिन बाबू के माथे पर धीरे-धीरे आगे पीछे सरकने लगीं।

कुछ देर नितिन बाबू चुपचाप छत की ओर देखते रहे फिर धीरे-से अपनी भारी हथेली साधना की अँगुलियों पर रखकर बोले—बस साधना! कहकर उसने साधना के उस हाथ को धीरे से अपने वक्षस्थल पर रख लिया। फिर साधना की ओर देखकर बोले—

"उस समय मेरी उम्र अठारह वर्ष की रही होगी। मैं बी०ए० में पढ़ता था। देश-विदेश में स्वतन्त्रता के लिये लड़ी गई लड़ाइयों की कहानियाँ मैंने पढ़ी थीं। मेरे कुछ साथी स्वातंत्र्य के लिये लड़े गये युद्धों की वीर गाथायें पढ़-पढ़कर मुट्ठियाँ बाँध उठते थे।

क्रांतिकारी पार्टी द्वारा फेंके गये बमों की, रेलगाड़ी को जंजीर खींचकर स्वतन्त्रता के युद्ध को आगे बढ़ाने के लिये जिस प्रकार सरकारी खजाने की लूट की कहानी बढ़ा-चढ़ाकर सुनाते थे, उसमें मेरा मन कभी न लगता था। उन बातों को सुन-सुनकर मन में स्वदेश के लिये कभी कोई भाव नहीं जागा। साथी मुझे देशद्रोही कहा करते थे; किन्तु मैंने उनकी बातों का कभी बुरा न माना। उस समय मैं देशद्रोही और देशभक्त में किसी भी प्रकार का भेद नहीं कर पाता था।"

सुनकर वह हँसने लगी।

थोड़ा रुककर वह बोला—

"उन दिनों हॉकी फुटबाल के खेल मेरे लिये इतने प्रिय थे कि कालेज टाइम के बाद खेल के समय जिस दिन आकाश में बादल घिर आते थे उस दिन मैं मुट्ठी बाँध-बाँधकर आकाश की ओर जिस आवेशपूर्ण ढंग से मुक्के ताना करता था, सो आज भी मुझे याद है। क्योंकि बूँदाबाँदी खेल के बीच बाधा थी।

मेरे मार्ग में, मेरी रुचियों के बीच जब भी कोई बाधा बनकर आई, उसे मैंने कभी नहीं सहा। जब खेल के समय घिर आने वाले मेघों के लिये उस जगत्-नियन्ता से भी मुक्के तानकर भिड़ जाने के लिये मैं उद्यत रहता था फिर साधारण मानव का सामना करना तो मेरे लिये कौतुक था! मात्र विनोद!

उन दिनों की एक घटना तुम्हें सुनाता हूँ। उन दिनों महात्मा गाँधी के नेतृत्व में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आंदोलन चल रहा था। दुकानों पर गाँव से बुलाये गये किसान सत्याग्रही दुकानों पर धरना देते थे। औरतें विदेशी कपड़ों को बेचने वाली दुकानों के सामने लेटकर खरीदारों को विदेशी वस्त्र न खरीदने के लिये कहती थीं। पुलिस द्वारा की जाने वाली खींचातानी में उन औरतों की चूड़ियाँ फूट जाती थीं, खाल खुरचकर खून छलछला उठता था। सत्याग्रहियों को घसीटकर सड़क पर फेंक दिया जाता था; किन्तु उन सब बातों को देखकर भी कभी मेरे मन में देशभक्ति का भाव नहीं जागा। वह सब मेरे लिये था मात्र मनोरंजन।

सुनकर तुम हँसोगी कि बी० ए० का विद्यार्थी होकर भी इतनी बड़ी बात मैं न समझ पाता था।

एक दिन कालेज के लड़कों ने अपने कालेज के उस ऊँचे लोहे के पोल पर अपना राष्ट्रीय तिरंगा झण्डा फहराने का निश्चय किया। प्रिन्सिपल ने उन्हें रोकना चाहा किन्तु लड़के नहीं माने।

लड़कों ने उस पोल पर चढ़कर झण्डा फहरा दिया। थोड़ी ही देर में पुलिस आगई। पुलिस के सिपाही उस झण्डे को उतारने के लिये जैसे ही चढ़ते थे वैसे ही कालेज के लड़के खम्भे पर चढ़ने वाले सिपाही पर कंकड़ पत्थर मार उठते थे।

एक पत्थर पोल पर चढ़ने वाले सिपाही के कान पर जा लगा। सिपाही नीचे आ गिरा। सुनकर तुम आश्चर्य करोगी। इस इतने बड़े होहल्ले को मैं दूर से तटस्थ-सा खड़ा देख रहा था। पुलिस उस अचेत सिपाही को उठा ले गई।

थोड़ी ही देर में एक गोरे सार्जेण्ट के साथ कुछ हिन्दुस्तानी सैनिकों की टुकड़ी मटमैली फौजी गाड़ी में बैठी धड़धड़ाती कालेज के अहाते में आ खड़ी हुई।

सबसे पहिले उस गाड़ी से सार्जेण्ट उतरा। वह लम्बा चौड़ा सार्जेण्ट छाती ताने चला आ रहा था। उसकी वह चाल, उसकी वह आन-बान, उसके चारों ओर निखरा वह पौरुष मुझे बहुत अच्छा लगा। उसके पीछे कुछ हिन्दुस्तानी सिपाही राइफल्स ताने उस झंडावरोहण के स्थान की ओर बढ़े आ रहे थे।

उन्हें इस प्रकार आते देख सारे विद्यार्थी घबरा गये। धीरे-धीरे एक दूसरे को आगे धकेलते पीछे हटने लगे। तभी वह अंग्रेज़ सार्जेण्ट छाती ताने, पैर फैलाये, गर्दन को एक ओर मोड़कर जिस दर्प-पूर्ण ढंग से आ खड़ा हुआ, सो देखने के लिये मैं उसके अति निकट जा पहुँचा। मैं उस अंग्रेज़ सार्जेण्ट को विमुग्ध आँखों से देख रहा था।

तभी वह क्रोध में काँपता गर्ज उठा—

"Who has made this mischief ? Can he dare to come out ?"

थोड़ी देर तक चुप खड़ा-खड़ा वह उस अपराधी विद्यार्थी के सामने आने की प्रतीक्षा करता रहा। फिर तीखी घृणा से भरकर

मुँह बनाता बोला—

"You Indian dogs ! You have no courage. You cowards !" कहकर वह गुस्से में काँपने लगा।

उसने हम भारतीयों को 'कुत्ता' कहा था, उसने कहा था तुम सामने आने का साहस नहीं कर सकते। उसने हम भारतीयों को 'कायर' कहकर पुकारा था।

सुनकर मुझे लगा—जैसे हम भारतीयों को चुनौती दी गई थी और पहली बार मैंने अपने को एक भारतीय के रूप में पहिचाना था।

सोचने लगा—उसने मुझे भी 'कुत्ता' कहा है। यह ध्यान आते ही जीवन में पहली बार जातीय अभिमान का सच्चा अर्थ मेरे सामने स्पष्ट हो उठा और उस प्रकार के सत्य की पहिचान कराने वाला था, एक अंग्रेज़।

मैं सिंह शावक की भाँति उछलकर उसके सामने जा खड़ा हुआ। यद्यपि उस सिपाही के पत्थर मैंने नहीं मारा था किन्तु यहाँ प्रश्न सत्य असत्य का न होकर था, जातीय अभिमान की रक्षा का।

सो झूठ बोलकर उसकी रक्षा करने के लिये मैंने मुट्ठी बाँध कर कहा—

"Well, I am the boy who has done that so called mischief. How dare you call us Indian dogs ? I warn........ !"

बीच ही में वह सार्जेन्ट मेरी ओर मुक्का तानकर बोला—

"Shut up you little pirsy dog, otherwise you shall have a good spanking from me."

सुनकर लगा जैसे किसी ने मेरे मुँह पर मुक्का मारा हो। अपनी उस अठारह वर्ष की उम्र तक मैंने कई बड़ी कुश्ती भी जीती थीं। सो शरीर में बल था, साहस भी कम नहीं था।

उस अंग्रेज़ द्वारा दी गई धमकी को मैं किसी भी प्रकार न सह सका। घायल चीते की भाँति उस पर टूट पड़ा। एक टँगड़ी मात्र में वह सार्जेन्ट धरती पर धड़ाम से जा पड़ा। सरकार की तरफ से पिताजी को रिवॉलवर मिला था। सो उसका प्रयोग भी मैं भली प्रकार जानता था।

मैंने एक झपाटे में उस सार्जेन्ट की कमर में लटकते रिवॉलवर को खींचकर उसकी ओर तानते हुये कहा—

"Now you must have been aware of our courage."

मैं उसकी ओर रिवॉलवर ताने-ताने पीछे की ओर हट आया। वह कायर सार्जेन्ट अपने प्राण जाने के भय से तब तक वहीं चुपचाप पड़ा रहा जब तक मैं उसकी आँखों के सामने से ओझल नहीं हो गया।

साधना, शायद इसी को विधि का विधान कहते हैं। मैंने उस क्षण तक कभी अंग्रेजी सरकार से लोहा लेने की कल्पना तक न की थी; किन्तु एक ही क्षण में मैंने पाया कि अब से मेरा सारा जीवन उस विदेशी सरकार से लोहा लेने ही में बीतेगा। और वही हुआ। उस क्षण के बाद मेरे जीवन की दिशा ही बदल गई।

जाने कितनी राजनैतिक डकैतियों में मैंने भाग लिया। जाने कितनी बार गोलियां ने इस शरीर को बींध डाला है; किन्तु साधना! एक बार भी मैं जेल नहीं गया। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि सरकार की सारी शक्ति भी मुझे जीवित जेल में नहीं भेज सकेगी और यही हुआ। जब तक देश स्वतंत्र नहीं हो गया तब तक अंग्रेजी सरकार के उन खूनी कुत्तों से अपना सिर छिपाये समूचे देश में भटकता फिरा, पर कभी मैंने हार नहीं मानी।

"साधना, यह एक लम्बी कहानी है, वह सरकार जिसके राज्य में कभी सूरज नहीं छिपता था। उससे लड़ते-लड़ते मैं टूट गया था।

18313

दुर्भाग्य या सद्भाग्य से १८ वर्ष की उम्र में जब क्रांतिकारी बन गया था उस अंग्रेज सार्जेन्ट द्वारा बना दिया गया तब उस सूचना को पाकर मेरी माँ अचेत होगई। पिताजी को सरकार से 'सर' का खिताब मिला था। उन्हें जब मेरी उस घटना का समाचार मिला तो नौकर के साथ रात के ग्यारह बजे उस स्थान पर आये जहाँ मैं छिपा बैठा था। आकर बहुत बुरा-भला कहा। अन्त में मेरे पिताजी का पितृ हृदय उमड़ आया।

रुद्ध कंठ से बोले—"निती! तू चलकर सार्जेन्ट से माफी मांग ले। वह मेरा अति निकट का परिचित है। वह तुझे क्षमा कर देगा। चल उठ!"

पिताजी की वह बात सुनकर मुझे लगा जैसे किसी ने पिघला हुआ गर्म इस्पात मेरे कानों में उड़ेल दिया है। मैं क्रोध और व्यथा से आहत-सा बोल उठा—"नहीं! नहीं!! मैं ऐसा नहीं करूंगा! नहीं करूंगा!!"

सुनकर पिताजी कुछ देर खड़े रहे फिर चुपचाप वहां से एक लम्बी साँस लेते हुये चले गये।

साधना, थोड़ी देर बाद पिताजी ने उसी विश्वस्त ड्राइवर के हाथ एक लिफाफे में ढेर सारे करेन्सी नोट और एक छोटी-सी चिट भेजी। चिट में लिखा था—"सरायरुहिल्ला स्टेशन तक कार पहुँचा देगी। जितनी जल्दी हो दिल्ली से बाहर चले जाओ। कपड़े गाड़ी में रख दिये हैं।"

पिताजी ने मुझे माफी मांगने के लिये कहा था। उसके समक्ष जो हमें 'कुत्ता' कहता है। वे चाहते थे कि मैं सचमुच कुत्ते की तरह उस गोरे सार्जेन्ट के सामने जाकर पूंछ हिलाऊँ!

माफी के लिये कहने वाले उन पिताजी के विरुद्ध मन घृणा से भर उठा। उसी आवेश में मैंने अपने उस ड्राइवर से कहा—

"मुझे रुपये नहीं चाहियें ! जब चाहूँगा चला जाऊँगा। चले जाओ मेरे सामने से।"

सुनकर वह ड्राइवर, "अच्छा छोटे बाबू।" कहता चला गया।

मैं उसी समय 'वेस्टर्न केनाल' के किनारे-किनारे भूखा-प्यासा चल दिया। जव उस स्टेशन पर पहुँचा तो गाड़ी तय्यार थी। पुलिस हैरान-सी स्टेशन पर इधर-उधर दौड़ रही थी। मैं चुपचाप एक भीड़ वाले डिब्बे में बैठ गया। मुँह छिपाता इस प्रकार बैठा जैसे ऊंघ रहा हूँ।

गाड़ी चलदी और फिर जाने कितनी वार उन गाड़ियों में विना टिकट बैठा, टी. टी. आई के धक्के खाये, जाने कितने गाँवों, शहरों में भटका और कितने धूल कीचड़ भरे मार्गों पर हारा-थका चलता रहा; सो उस समय के एक-एक दिन की लम्बी कहानी है।" कहते-कहते उसने साधना का हाथ अपने माथे पर रख लिया।

७

कुछ देर चुप रहकर नितिन बोला—"साधना, अब तुम्हें इस मन की बात सुनाता हूँ। जिसके सिर के लिये सरकार द्वारा हजारों रुपयों की बोली लगा दी गई थी। जिसके पीछे सी. आई. डी. शिकारी कुत्तों की भाँति सूंघती फिर रही थी; उसी अभागे प्राणी के रोमान्स की कहानी सुनाता हूँ।"

सुनकर वह हंस पड़ी। बोली—"सो कैसे हुआ नितिन बाबू, जिसके जीवन और मृत्यु के बीच एक पतली-सी रेखा खिंच गई हो। उसकी कोई रोमान्स की कहानी कैसे हो सकती है?"

"साधना, जब मानव समझता है कि उसका प्राणान्त कभी किसी भी क्षण हो सकता है तब उस अभागे की मनोदशा विचित्र हो उठती है। उसके उस गोपनीय जीवन में कोई भी गोपनीय बात उसे अति मनोरम-सी लगती है। सो ऐसा होना स्वाभाविक ही था।"

"क्या कैसे हुआ? बताइये न।"

"हाँ, तो उन दिनों मैं अजमेर के पास खड़ी छोटी-छोटी पहाड़ियों पर रहता था। उनके चारों ओर छोटे-छोटे गाँव थे। गाँव वालों की दवादारू करने उधर चला जाता था और ये ग्रामीण कभी मुझे भूखा-प्यासा गाँव स न लौटने देते थे।

एक दिन घूमता-घूमता दूर तक चला गया। वहां एक गाँव के कोने पर एक लम्बा-चौड़ा अहाता देखा। उन झोंपड़ों के बीच झोंपड़ियों में रहने वालों की सेवा का व्रत लिये कुछ अहिंसावादी देश भक्त ऊँचे-ऊँचे भवनों में रह रहे थे। उसके मुख्य गेट पर लिखा था—'गाँधी आश्रम।'

उस आश्रम को देखकर मन में एक भाव भी उठा—यदि यहीं रहकर मैं इनकी योजना में सम्मिलित हो सकूँ तो कुछ समय छिपकर समय काटा जा सकता है। उनके अहिंसावादी उद्देश्य में तो मेरा विश्वास था नहीं; किन्तु सोचा वहीं रहकर किसी क्रांति-कारी पार्टी से सम्बन्ध तो जोड़ सकूँगा।

साधना! सुनकर तुम आश्चर्य करोगी कि जो व्यक्ति कभी देशभक्त न था, जिसे देश से कुछ मतलब न था। खेलकूद और मनोविनोद ही जिसका जीवन था। सो वही अपमान की चोट खाकर दिनरात उन विदेशियों को मातृभूमि से मारकर भगा देने के लिये छटपटाता रहता था।

अब तक वह किसी भी पार्टी से सम्बन्ध न जोड़ सका था। उसी उद्देश्य को लेकर वह आश्रम के संचालक महोदय के पास जा पहुँचा।

उन्होंने अपनी शंकित एवं सन्देह भरी आंखों से ऐसी मर्म-भेदी दृष्टि से मुझे देखा कि आज तक भी मुझे याद है; किन्तु भगवान ने जैसा निरपराध चेहरा देकर मुझे इस धरती पर भेजा है उससे कई बार मेरे प्राण बचे थे। सन्देह में गिरफ्तार होकर कई बार पुलिस चौकियों की कोठरी में रातें विताईं; किन्तु मेरे निरपराधी होने का सबसे बड़ा प्रमाण मेरा चेहरा ही हुआ करता था।

पुलिस ऑफीसर मेरे चेहरे पर अपनी दृष्टि गढ़ाकर अपने दीर्घ अनुभव का गुण गान करते कहा करते थे—"नहीं साब! यह वह नहीं है। मेरी आँखें मुझे कभी धोखा नहीं देतीं।"

सो उन पुलिस अधिकारियों की भाँति उन आश्रम के संचा-लक की आँखें और उनकी मर्म-भेदी दृष्टि भी धोखा खा गई।

सुनकर साधना ने मेरा माथा थपथपाया और बोली—"तो धोखेबाज़ आप जन्म से हैं। कहीं मुझे भी धोखा.....।"

"हिश ! वह बात दूसरी थी।"

"अच्छा आगे कहिये।"

"संक्षेप में यही हुआ कि मैं उन अहिंसावादी गुरु से दीक्षित होकर नियमानुसार आश्रमवासी बन गया। काम मिला था मुझे आश्रमवासियों के बच्चों की देख-भाल रखना, पढ़ाना-लिखाना और उनके कपड़े धोने से लेकर बाल सँवारने, खाने-पिलाने तक का उत्तरदायित्व प्रेम-पूर्वक निभाना। आवश्यकता पड़ने पर उनकी जुएँ भी सिर से बीन-बीन कर अहिंसक पद्धति से दूर कर देना।

आश्रम के संचालक का दबदबा और आतंक सभी आश्रम-वासियों पर था। अहिंसा एवं निर्भीकता का पाठ सीखने वाले वे आश्रमवासी अहिंसावादी संचालकजी से थर-थर काँपते रहते थे।

एक दिन संचालकजी गोधूलि के उस धुँधले प्रकाश में एक तख्त पर बैठे थे। मैं सामने के दालान में सूत की निश्चित लम्बाई पूरी करने के लिये चरखा चला रहा था।"

"सूत की निश्चित लम्बाई ?"

"हाँ, अब तो याद नहीं पर कुछ निश्चित गज सूत कातना भी उस आश्रम का नियम था। तो मैं वहाँ बैठा निश्चित लम्बाई को कमी पूरी कर रहा था।

तभी उन संचालकजी का कंठ स्वर सुनाई पड़ा वे बोले—"एक गिलास पानी देना।" सुनकर आश्रम की दो लड़कियाँ पानी भरा गिलास लेकर दौड़ पड़ी थीं। उन्होंने एक के हाथ से लेकर पानी पी लिया। और दूसरी के हाथ से गिलास लेकर वहीं तख्त पर रख लिया।

जिसके हाथ का गिलास लेकर उन्होंने बिना पानी पिये तख्त

पर रख दिया, वह लड़की उदास-सी वहीं खड़ी रही फिर चली गई। उधर संचालकजी ने उसके उस गिलास को एक हाथ से नीचे पटक दिया और स्वयं तख्त पर लेट गये।

उस लड़की ने उस फेंके गये गिलास की आवाज़ सुनी और उस बात को उसने अपना अपमान माना। साधना, तुम कल्पना भी नहीं कर सकती कि ऐसा भी कभी हुआ होगा।

"ऐसा क्या हुआ था ?"

वह लड़की लौट आई। अपना वह गिलास जो नीचे गिरा दिया गया था, उसने उठाया और उन संचालकजी के माथे पर दे मारा। उनके माथे पर, जिनका आतंक सारे आश्रमवासियों पर था।

माथे से रक्त वह निकला। उस लड़की की उस प्रखरता एवं तेजस्विता को देखकर मैं मन ही मन मुग्ध हो उठा।

दो-तीन दिन बाद मैं बच्चों को लेकर बाहर जंगल में गया। बच्चे एक खेत में खेलने लगे। संध्या के उस धुँधले प्रकाश में न जाने क्यों मेरा मन अवसाद से भर उठा।

मैं चुपचाप बैठा था। अचानक एक टिटहरी कराहती-सी एक ओर उड़ गई। तब मुझे लगा जैसे मेरे हृदय में भी कहीं कुछ कसक उठा है।

उस दिन वहीं बैठा मैं अकारण ही हिचक-हिचक कर रोया था। उस समय मैं जान ही न सका कि उस दिन क्या कुछ ऐसा अन्दर ही अन्दर जागा था ? कैसी थी वह शून्यता जो अन्दर-ही अन्दर हाहाकार कर उठी थी ?

साधना, मुझ पुरुष की, मुझ मानव की वह वैसी ही पुकार थी जिसे तृप्त कर लेने के लिये पास ही नाले के किनारे एक सारस का जोड़ा सस्नेह एक-दूसरे को दुलरा रहे थे। दोनों ने अपनी लम्बी गर्दनें एक दूसरे की गर्दन में लपेट रखी थीं।

उन्हें देखकर मेरा मन ऐसे साथी के लिये अन्दर ही अन्दर चीख उठा। ऐसे ही किसी साथी के गले में हाथ डालने के लिये मन ललक उठा था।

तभी बच्चों ने आस-पास आकर आश्रम में चलने के लिये आग्रह किया और मैं चुपचाप आँखें पोंछकर उन्हें साथ लिये आश्रम में लौट आया।

उस रात मैं बिना खाये-पीये चुपचाप कमरे में आकर लेट गया।

दूसरे दिन आश्रम के नियम के विरुद्ध देर से उठा। आश्रम के संचालक सामने आफिस में बैठे कुछ लिख रहे थे। मुझे उधर जाते देख अपने पास बुलाया। मैं सोचने लगा—देर से उठने के लिये उपालम्भ देंगे ; किन्तु उन्होंने कही दूसरी बात।

बोले—"आश्रम के बड़े वर्ग का हिन्दी-साहित्य का घंटा ले सकोगे ?"

मैंने कहा—"जी, उसमें तो मेरी बचपन से ही रुचि रही है।"

सुनकर उन्होंने एक घंटा नाश्ते के बाद बड़े वर्ग को पढ़ाने के लिये कहा। मैं 'ठीक है' कहकर चला आया।

निश्चित समय पर उस वर्ग को पढ़ाने गया। उस वर्ग में वह लता भी पढ़ती थी जिसने पिछले दिन संचालक से अपने अपमान का बदला लेने के लिये उनके सिर पर गिलास दे मारा था।

मैं चुपचाप अध्यापक के आसन पर बैठ गया। उस समय मेरी उम्र बीस वर्ष की रही होगी। सार्जेण्ट वाली घटना के बाद दो वर्ष तक इधर-उधर भटक चुका था।

उस समय मेरे कन्धों तक लटकते लम्बे बाल थे। प्रातःकाल उठकर व्यायाम करना और बीच में विश्राम के समय पास वाली पहाड़ियों पर एक घंटा भागना मेरा नित नेम था।

शरीर में खूब बल था। पहलवान था। हॉकी, फुटबॉल के खिलाड़ी की भाँति जाँघ की माँस पेशियाँ ऊपर को उभर आई थीं।

गोपनीय जीवन बिताने के कारण मन में मस्ती थी। मैं नहीं जानता कि उन दिनों मुझमें क्या-क्या ऐसा था जिसके लिये आश्रम की लड़कियाँ मेरे सान्निध्य में सुख मानती थीं।

सो जब पहिले दिन उन लड़कियों को पढ़ाने मैं बैठा तो यह जानकर कि भविष्य में मैं ही साहित्य का घंटा लिया करूँगा, वह लता खुशी में भर उठी। उसका समस्त चेहरा दीप्त हो उठा।

८

लता का रंग साँवला था। स्वर में एक प्रकार का ऐसा मिठास था कि लता के उस कण्ठ-स्वर में मैं सुन पाता था आम्र मंजरियों में लुकी-छिपी बोलती कोयल की मधुमयी पुकार-कूहू ! कूहू !!

उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में मेरे प्रति एक प्रकार की श्रद्धा का ऐसा भाव रहता था, जिसे कोई भी सहज ही में समझ सकता था। इस बात को लेकर कभी-कभी उसकी सहेलियाँ अस्फुट स्वर में उसे ऐसा कुछ कह सुन बैठती थीं, जिसे सुनकर मारे लाज के वह लाल हो उठती थी।

लता के पिता कोरे अहिंसावादी कोतल घोड़े न थे। वे थे राष्ट्र के कर्मनिष्ठ तपे हुए देशभक्त। राजस्थान के एक पहाड़ी प्रान्त में बसे भीलों में वे कार्य कर रहे थे। वहाँ के राजा ने उन्हें पकड़-पकड़कर उनके साथ कैसे-कैसे अमानुषिक अत्याचार किये थे वह सब कई बार आश्रमवासियों द्वारा सुन चुका था।

इस नाते भी मैं अन्दर-ही अन्दर लता के साथ विशेष अपनत्व-सा अनुभव करने लगा था।

मन के इस भाव को मैं कभी भी उस पर व्यक्त न करता-था किन्तु प्रीति और घृणा के इस भाव को छिपा सका है आज तक कोई ? सो मैं नहीं जानता मेरे मन का वह गोपनीय भाव कब कैसे उसके अन्तर्यामी तक जा पहुँचा।

वर्षा के दिन थे। दुपहरी में कभी-कभी बहुत गर्मी पड़ती थी। गांव के वे पथरीले मार्ग अंगारे से तप उठते थे। लता के पास चप्पल जूते कुछ भी न थे। रोज़ ही उसके उन नंगे पैरों को

उन अंगारों पर रखते मैं देखा करता था। एड़ी उठाये पंजों के सहारे उन दहकते पत्थरों पर पैर रखकर दौड़ते मैंने उसे कई बार देखा था। देखकर मन पसीज उठता था।

मुझे आश्रम में अध्यापन का कार्य करने के लिये पच्चीस रुपये मासिक मिलते थे। पन्द्रह रुपये खाने-पीने में खर्च होकर दस रुपये मासिक बच जाता था। सो मन करता था कि उसके लिये लता के पैरों का नाप लेकर जूता चप्पल बाज़ार से ले आऊँ। और किसी देश भक्त की उस प्रतिभाशालिनी बेटी के जलते पैरों में अपने हाथ से ही उन चप्पलों को पहिना दूँ। पर ऐसा करने का साहस मैं कभी भी न कर सका।

एक दिन मैं विश्राम के समय पहाड़ियों में घूमने नहीं गया। चुपचाप अपने कमरे में लेटा था। तभी बच्चों ने चीखते-पुकारते आकर सूचना दी—'लता जीजी बेहोश हो गई! लता जीजी बेहोश हो गई!" सुनकर हड़बड़ाता बाहर आया। बच्चों से पूछने पर पता चला कि आश्रम की बाहर की गली में बेहोश होकर गिर पड़ी है।

मैं दौड़ा-दौड़ा उधर गया। जो दुर्दशा उस लड़की की भरी दुपहरिया में उस जन-मार्ग पर हो रही थी उसे देखकर आश्रम-वासियों के उन नैतिक विचारों के खोखलेपन से मन जल भुन उठा।

जलते तप्त पत्थरों पर पड़ी उस लता को कोई लड़की या महिला तो उठा नहीं पाती थी और पुरुषों में कोई भी युवती का स्पर्श करने जैसी अनीति करने के लिये तय्यार नहीं हो रहा था।

मैं बिना एक पल की प्रतीक्षा किये आगे बढ़ा। एक हाथ गले के नीचे और दूसरा उसके घोटुओं के नीचे डालकर वहाँ से आश्रम में उठा लाया।

उसके मुँह पर छींटे डाले गये। थोड़े ही समय में वह ठीक हो गई। जब उसे चेत आया तो उसने जिन आँखों से घबराती

हिरनी की भाँति चारों ओर देखा वह मैं कभी नहीं भूल पाता। इधर-उधर घूमतीं वे आँखें मेरे चेहरे पर आकर रुक गईं। यह बात वहाँ खड़े आश्रमवासियों से भी छिपी नहीं रही। इस बात को लेकर जिस प्रकार वे एक दूसरे को देखकर मुस्कराये वह देख कर मुझे बहुत बुरा लगा। चुपचाप उस कड़ुवे घूँट को पी गया।

सोचने लगा—ऊपर से संत दिखने वाले वे अहिंसावादी अपने धवल खादी परिधान के नीचे कितनी कालिमा छिपाये हैं।

बात संचालक तक पहुँची। उन्होंने नीति और ब्रह्मचर्य-व्रत की गहरी एवं विस्तृत व्याख्या करके भविष्य में जागरुक रहने का उपदेश एवं चेतावनी दी।

उपदेश को सुनते समय जी चाहा कि मैं चीख पड़ूँ और चीख-चीखकर उनसे कह दूँ कि इस प्रकार किसी हतभागिनी को तपते पत्थरों पर से उठा लाना अनीति और ब्रह्मचर्य-व्रत का टूटना है तो उस आश्रम में आग लगाकर राख की ढेरी बना देना चाहिये। किन्तु वैसा मैं कह नहीं सका क्योंकि मुझे वहीं आश्रम में रहकर सरकार के शिकारी कुत्तों से अपना सिर छिपाना था और किसी क्रान्तिकारी पार्टी से सम्बन्ध स्थापित करना था। तब तक उस पार्टी के एक-दो सदस्यों से मेरा सम्पर्क भी हो चुका था।

उसी दिन शाम को आकाश में बादल घिर आये। ठंडी हवा चल रही थी। संचालक की पत्नी अपने कमरे के सामने बैठी थीं। उनके बच्चे को मैं पढ़ाता था। सो उसी की प्रगति के सम्बन्ध में कुछ पूछ-ताछ करने के लिये उन्होंने मुझे बुला भेजा।

जब मैं वहाँ पहुँचा तब अँधेरा हो चुका था। तेज़ हवा में दीया बार-बार बुझ जाता था। मैं चुपचाप वहीं पास पड़ी खाट पर बैठ गया। तभी वहीं पास ही बैठी लता का कंठस्वर सुन पड़ा।

संचालकजी की पत्नी मुझ से अपने बच्चे के बारे में पूछ-ताछ कर रही थीं और मैं उन्हें उसके सम्बन्ध की पूरी रिपोर्ट

देने का प्रयत्न कर रहा था। तभी मैंने ऐसा अनुभव किया कि मेरे लटकते दायें पैर में कहीं कुछ बार-बार छू जाता है। उस अंधेरे में भी यह समझते मुझे देर नहीं लगी कि वह किसी युवती का स्पर्श है उस युवती का जिसके लिये मेरे मन में दिनरात स्नेह का पारावार-सा उमड़ने लगा था।

नारी का प्रथम स्पर्श ! मैं काँप उठा, सिहर उठा। जाने क्या गले में आ-आकर अटकने लगा। मेरा गला रुँध गया फिर किसी भी प्रकार मैं बच्चे की उस माँ को कोई भी उत्तर न दे सका। सिर में दर्द होने का सहारा लेकर चुपचाप अपने कमरे में चला आया।

उस रात मैं किसी भी प्रकार एक पल के लिये भी न सो सका। जब उठा तो ठण्डी हवा चल रही थी, रात को पानी बरसा था। कड़कियों के उस वर्ग में पढ़ाने गया तो लता के चेहरे पर एक ऐसा भाव देखा जो इससे पूर्व मैंने कभी न देखा था। उसकी आँखें लाज से झुक-झुक जाती थीं। तभी मैंने देखा कि वह जाड़े के मारे काँप रही है। उसके होंठ नीले पड़ गये थे।

उसकी साड़ी जिसमें कई जगह संभालकर पैवन्द लगाये गये थे वह गीली। सोचने लगा—वह गीली साड़ी पहिनकर कक्षा में क्यों आई ? वह अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में क्यों है इतनी असावधान ?

सो उन सब लड़कियों के सामने सावधानी और सतर्कता का उपदेश देकर उसे कक्षा से चले जाने और दूसरी साड़ी पहिन-कर आने के लिये मैंने कहा था।

जब बहुत देर तक वह वापस नहीं आई तो यह समझकर कि वह रूठ गई है, मेरे उपदेश को सह नहीं पाई है, मैंने कक्षा की उन शेष लड़कियों को विनम्रता, सहनशीलता, और अनु-शासन पालन के सम्बन्ध में भावुकता एवं आवेशपूर्ण एक लम्बा

उपदेश दिया था।

तब अन्त में ओठों ही ओठों मुस्कराती कक्षा की एक सबसे छोटी अति गोरी लड़की ने कहा—"वैसा कुछ भी नहीं है, मास्टरजी ! कक्षा में पहिनकर आने लायक लता जीजी के पास एक ही साड़ी है। कल वर्षा में भीग गई थी सो कक्षा के समय तक सूख नहीं पाई थी।"

सुनकर लगा जैसे विनम्रता एवं अनुशासन पालने के लिये मेरे द्वारा कह गये शब्द लौट-लौटकर कनखजूरे की भाँति सुरसुराते मेरे कर्णविवरों में प्रवेश किये जा रहे हैं।

घंटी बजी और मैं सिर झुकाये अपने कमरे में आ बैठा। थोड़ी देर बाद बच्चों के काम में लग गया। जब सांझ हुई तो मैं सीधा उसी जगह पर गया जहाँ पिछले किसी दिन रोया था।

सामने पानी के नाले पर अब भी सारस का एक जोड़ा खड़ा था। सारसी सारस की गर्दन के नीचे धीरे-धीरे अपनी चोंच से खुजला रही थी। जिसकी चोंच खुजलाई जा रही थी वह आकाश की ओर चोंच उठा-उठाकर आह्लाद भरी पुकार कर उठता था। मैं नहीं जानता उसकी उस पुकार में क्या था ? अपने साथी द्वारा दिये गये सुख के लिये, उस सान्निध्य के लिये जगतनियन्ता का साधुवाद कर रहा था या मुझ मानव के दुर्भाग्य के लिये समवेदना प्रगट कर रहा था। हाँ, इतना जानता हूँ कि उस जोड़े को देख-देखकर एक ही भाव कई प्रकार से मन में आ जा रहा था—मैं मानव न होकर, होता सारस और पास ही खड़ी होती सारसी, मेरी गर्दन को खुजलाती, दुलारती !!

तभी मैंने देखा—आश्रम के वे बच्चे उस जोड़े के अति निकट जा खड़े हुये और कहे जा रहे थे—"सारस ! सारस !! तेरी बहू कितनी बड़ी ?" और सारस जब भी अपनी गर्दन उठाकर बोलता तो वे निरपराध नन्हे-मुन्ने एक दूसरे से कह

उठते—"वह देख ! गर्दन ऊँची करके बता रहा है—इतनी बड़ी ! इतनी बड़ी !!

वे भोले शिशु मारे खुशी के उस जोड़े के आस-पास उछल कूदकर सारस की बहू की ऊँचाई बार-बार जान लेना चाहते थे और मुग्ध यौवन की देहरी पर पैर रखने वाले मानव की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बही जा रही थी।

जीवन के बीस वर्ष तक जिसकी आंखों में कभी किसी ने आँसू की एक बूँद नहीं देखी सो जाने किस अभाव की व्यथा से, किस प्रकार की भूख से छटपटाता, किस मीठी कसक से अभिभूत हो हृदय में उठते उस अन्तर्दाह को बुझाने के लिये आँसुओं की अविरल धारा बहाये जा रहा था।

अब तक साँझ का धुँधला प्रकाश अंधियारी में घुलता जा रहा था। मैं आँसुओं के उस पारावार में ऐसा डूबा कि जब एक नन्हे बच्चे ने गोद में बैठकर पूछा—"क्यों रो रहे हो माछटरजी ?" तब जाकर मुझे चेत आया और आँसू पोंछकर खड़ा हो गया।

उस दिन मैंने उस नन्हे बालक को उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था; किन्तु अब सोचता हूँ वह नन्हा शिशु युवक हो चुका होगा और जिस बात का उत्तर मैंने उसे नहीं दिया था उसका समाधान प्रकृति ने अपने मूक स्वर में आज दिया होगा।

सुनकर साधना की हथेलियों का दबाव मेरे माथे पर बढ़ने लगा। उसकी सांसें थोड़ी लम्बी हो-होकर आने जाने लगीं।

मैं कहने लगा—"साधना ! उस रात जब बच्चों को लेकर मैं आश्रम लौटा तो पिछले दिन की भाँति बिना खाये-पिये ही सो गया।

जब सुबह उठा तो प्राची में उगता वह सिंदूरी कलश कनकघट में बदल चुका था। रात में पिछले पहर वर्षा होगई थी सो सौंधी-सौंधी;

बयार चल रही थी। मन किसी भी प्रकार बिछौना छोड़ने के लिये नहीं कर रहा था किन्तु बिना उठे चलता कैसे। उस गांधी आश्रम में नियम मानव से ऊपर था। हृदय मस्तिष्क द्वारा शासित होता था। भावना का सिर आदर्शों के पत्थरों से कुचल डाला गया था।

इसीलिये आश्रम में रहने वाले उन मानवों की कुचली हुई भावनायें प्रगट होती थीं गोपनीय वासना में ! जिसमें उस आश्रम के संचालक भी लिप्त थे। उनकी शिकायतें महात्मा गाँधी तक पहुँच रही थीं किन्तु वह युगस्रष्टा महात्मा अतिमानव मानव के रूप की इतनी हीन कल्पना न कर सका। इसलिये वह मठाधीश मठ के उस अति पवित्र आसन पर आडिग ही रहा।

मैं नित्य कर्म से निबटकर जब अपने कमरे में लौटा तो देखा—मेरे तख्त पर एक गिलास की जगह दूध से भरे दो गिलास रखे थे। गिलास के नीचे मोड़ी गई एक चिट रखी थी। जैसे ही मैंने उस दबी हुई चिट को खोलकर पढ़ना चाहा तभी मेरे कमरे के सामने से एक छाया दौड़ती-सी चली गई।

चिट में लिखा था—

"रोते क्यों हैं ? जिसके लिये रोते हैं सो उसे पा क्यों नहीं लेते ? रात कुछ नहीं खाया सो अब मेरे इस भाग को लौटाकर मेरा अपमान न करना—पर्ची फाड़ डालना।"

'लता'

किसी युवती की कोमल कमनीय अँगुलियों से लिखी गई उस छोटी-सी चिट का मेरे लिये क्या मूल्य था सो वही जान सकता है जिसे जीवन में कभी इसी प्रकार समवेदना और सहानुभूति से भरा, कागज का छोटा-सा टुकड़ा मिला हो।

कागज पर लिखे एक-एक शब्द में मुझे लगता था जैसे मेरे मीठे सपनों के प्रासाद खड़े हैं। मैं नहीं जानता मैंने कितनी बार

उस चिट को पढ़ा था। पढ़कर उस चिट को पहिले माथे से लगाया फिर उसे ओठों पर रखकर सिहर उठा था। तभी कमरे से बाहर एक अस्फुट हास का स्वर सुनाई पड़ा। यह समझते मुझे देर नहीं लगी कि मेरे इस सारे व्यापार को वह कहीं न कहीं से खड़ी देख रही थी।

दोनों दूध भरे गिलास पीकर जब कक्षा में आया तो सबसे पहिले आँखें जा पहुँचीं लता की ओर। लगा जैसे सिर झुकाये बड़े मनोयोग से पुस्तक पढ़ रही है किन्तु वह साप्रयास केन्द्रित किया गया मन बार-बार कहीं दूर-दूर उड़ जाता था।

वह चेहरा लाज से गुलाबी हो उठता था और तभी मेरी दृष्टि गई कक्षा की उस छोटी पहाड़ी बालिका इन्दु पर। उसके ओठों पर एक ऐसी हँसी थी जो कह रही थी—'कहिये, मास्टरजी, आज क्या हुआ था ?"

तभी वह अपने हास्य में व्यंग-सा बिखेरती बोली—"मास्टर जी, आज तो मेरे भाग जाग गये।"

मैंने पाठ्य-पुस्तक में से उस दिन पढ़ाया जाने वाला पाठ निकालने के लिए पृष्ठ फेरते-फेरते अन्यमनस्क भाव से पूछा—

"क्यों, क्या हुआ था ऐसा ?"

"एक ही जगह दो गिलास दूध मिल गया था।"

सुनकर लता सिमिटकर आधी रह गई। उसने धीरे से हाथ बढ़ाकर इन्दु की बाँह में चिकोटी काटी। वह एक हलकी चीख के साथ स्वर में कृत्रिम आक्रोश भरकर बोली—

"देखिये मास्टरजी, लता जीजी नहीं मानती। उन्हें दूध नहीं मिला सो भूख के मारे मुझे ही नोचकर खाये जाती हैं।" कहकर हँसते-हँसते उसका मुँह लाल हो गया। दूसरी लड़कियाँ उस खिल-खिलाती को देखकर धीरे-धीरे मुस्काने लगीं।

तभी मेरी दृष्टि सामने गई। जो कुछ सामने था उसे देखकर

मेरा मुँह पीला पड़ गया या सफेद सो तो मैं नहीं जानता किन्तु इतना याद है कि ऐसा लगा था जैसे सामने आँखें चमकाता बार-बार जीभ बाहर की ओर फेंकता फन उठाये, डसने के लिये उद्यत, मेरे अति निकट काला भुजङ्ग फुंकारता खड़ा है। सामने ही भृकुटी ताने आश्रम के संचालकजी खड़े थे।

उन्होंने एक संकेत से मुझे बुलाया। मैं उठकर खड़ा हो गया। लता और उस छोटी लड़की इन्दु की दृष्टि भी उधर गई। वह खिल-खिलाती लड़की कैसे अचानक चुप हो गई थी, कैसे वह आरक्त चेहरा पीला पड़ गया था, सो मैं कभी नहीं भूल पाता।

संचालक महोदय मुझे एक ओर ले गये और बोले—"तुम्हारे बारे में बहुत-सी शिकायतें मेरे पास आती रहती हैं किन्तु तुम्हारे परिश्रम और संलग्नता को देखकर मैं तुम्हें क्षमा करता आ रहा हूँ। आप कक्षा में लड़कियों से अनुशासन पालन भी नहीं करा पाते। लगता है अब तुम्हारे बारे में कुछ निर्णय करना ही होगा।" फिर कुछ देर चुप रहकर बोले—

"संध्या की प्रार्थना के बाद मुझे मेरे कमरे में मिलो।" कह कर वे चले गये।

उस दिन संध्या समय जब बच्चों को लेकर मैं घूमने निकला तो मन उदास था। आकाश में बादल उमड़-घुमड़ रहे थे; लेकिन लगता था कि घंटे दो घंटे तक बरसेगा नहीं। मैं बच्चों को लेकर उस पानी के नाले की ओर चल पड़ा।

वैसे उस गाँव के पास घूमने के लिये उससे सुन्दर स्थान दूसरा नहीं था, किन्तु इसके साथ ही एक दूसरा आकर्षण जो उधर था, वह था सारस का जोड़ा।

वह सारस का जोड़ा, प्रायः संध्या समय उस पहाड़ी नाले में अवश्य ही खड़ा मिलता था। साथ-ही एक कारण और भी था उस ओर जाने का।

बुद्ध को उस वटवृक्ष के प्रति जिसके नीचे बैठकर उन्हें आलोक मिला था, किसी प्रकार का आकर्षण रहा हो या नहीं किन्तु मुझे तो पत्थर की उस शिला से जो उस पहाड़ी नाले के पास ही स्थितप्रज्ञ की भाँति स्थित थी, उस पर संध्या समय जा कर बैठने के लिये दिन भर मन ललकता रहता था।

बुद्ध की जिज्ञासा के फुंकारते सर्प का फन नीचा हुआ था अंदर से आलोक पाकर, किन्तु मुझे यौवन के मिठास की, उस दुर्निवार भूख की अनुभूति हुई थी, सारस के उस जोड़े को देखकर। सो शायद इसीलिये उस शिला पर बैठकर सारस के उस जोड़े को देखने के लिये संध्या समय बरबस पैर उसी ओर चल पड़ते थे।

उस दिन जब मैं वहाँ पहुँचा तो सारस का वह जोड़ा एक दूसरे की चोंच में चोंच डाले एक दूसरे में एकाकार हो जाने के लिये पर फड़फड़ा रहे थे।

सारस के जोड़े के उस प्रणयोन्माद को देखकर सारा शरीर काँपने लगा। विचित्र प्रकार की हिचकी-सी आने लगी। अपनी मुट्ठियों को भींचे मैं सारस के जोड़े के उस रोमांस, प्रणय-क्रीड़ा को देख रहा था।

तभी मुझे लता की वह चिट याद आई। लिखा था—"रोते क्यों हैं? जिसके लिये रोते हैं सो उसे पा क्यों नहीं लेते?"

सोचने लगा—लता, लेकिन मैं तो यह भी नहीं जानता कि यह प्राण किसके लिये, क्या पा लेने के लिये दिन रात रोते रहते हैं। क्या है वह जिसके लिये मेरे अन्तस्तल में हाहाकार-सा मच उठा है?

हाँ, कभी-कभी चाहता हूँ—लता, तुम मेरे पास होती। अभी यहाँ होती, मैं तुमसे बातें करता। तुम्हारा काँपता कंठस्वर सुनता। तुम्हारे ओठों पर रह-रहकर विखर उठने वाली सस्मित हास को देख-देखकर सिहर उठता।

फिर याद आया—आज संचालकजी से प्रार्थना के वाद मिलना है। क्या निर्णय करेगा वह? मुझे आश्रम से हटा देगा।—सोचते-सोचते निराश-सा हो उठा।

आकाश में फैले वे वादल नीचे की ओर झुके आ रहे थे। जव हलकी-हलकी बूँदें गिरने लगीं तभी नाले के आस-पास खेलते वच्चे मेरे पास दौड़ आये और हम सव आश्रम की ओर लौट पड़े।

जव आश्रम में आया तो प्रार्थना समाप्त हो चुकी थी। उस दिन भी मैं प्रार्थना में सम्मिलित न हो सका। प्रार्थना छत पर होती थी। संचालक महोदय उस समय प्रार्थना के वाद छत से उतर रहे थे। जैसे ही वे अपने कमरे में पहुँचे वैसे ही मैं भी कमरे में जा पहुँचा। एक कुर्सी खींचकर चुपचाप बैठ गया।

संचालक ने अपनी ऐनक का फ्रेम ऊँचा करके मेरी ओर देखा और बोले—

"मास्टरजी ! बात यह है कि आपके बारे में अब शिकायतें बढ़ती ही जा रही हैं।"

मैंने अन्दर ही अन्दर जलते हुए किन्तु ऊपर से संयत स्वर में कहा—"शिकायतों का होना किसी को अपराधी तो सिद्ध नहीं करता।"

"किन्तु शिकायतों का कुछ न कुछ आधार तो होना ही चाहिये। बिना आधार के शिकायत कैसे हो सकती है। कुछ न कुछ तो आधार होगा ही।"

"संचालकजी ! कुछ शिकायतें शाश्वत होती हैं। जो कभी नहीं मिटती और युगयुगां से चली आ रही हैं। जैसे सास और बहू, शासक और शासित की आपसी शिकायतें। उसी प्रकार जिनका यौवन बीत चुका है, जो युवकों को देखकर ईर्ष्या से जल उठते हैं, अपने बीते यौवन की स्मृति में जो कराह उठते हैं, उन वृद्धों की युवकों के विरुद्ध होने वाली शिकायतें ठीक वैसी ही निराधार होती हैं।"

"लेकिन तुम्हारे विरुद्ध जिन लोगों की शिकायत है वे वृद्ध नहीं हैं।"

"कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ऊपर से दिखने वाले युवा-शरीर में भी मन बूढ़ा हो उठता है। सो ऐसे ही किसी बूढ़े ने कुछ कहा सुना होगा। लेकिन कोई भी हो उन्हें मुझ से आखिर शिकायत है क्या ? यह तो बताइये।"

"एक शिकायत तो यह है कि प्रार्थना के समय तुम्हारा मन प्रार्थना से अधिक प्रार्थना में बैठी बहिनों की ओर देखने में अधिक लगा रहता है। यह तुम्हारे मन की कालिमा का सबसे बड़ा प्रमाण है।"

सुनकर मुझे हँसी आगई। हँसते-हँसते बोला—"मैं समझता हूँ मेरी सच्चाई का सबसे बड़ा प्रमाण ही यही है। चाहे इस प्रकार देखना अनुचित ही हो, किन्तु करता मैं वही हूँ जो स्वाभाविक है। इसे कालिमा आप कैसे कह सकते हैं? खुले प्रकाश में कलुष टिक ही कैसे सकता है?

कलुषित हृदय उनके हैं जो आंखें बन्द करने का दम्भ करके चोरों की भाँति इधर-उधर ताकते हैं।"

संचालकजी कुछ आवेश में बोले—"अच्छा मान लिया कि हम सब आंखें बन्द करके प्रार्थना करने वालों के हृदय ही कलुषित हैं किन्तु क्या मैं जान सकता हूँ कि आप उस ओर क्या देखा करते हैं?"

"लेकिन यह कब सिद्ध हो गया कि मैं उस ओर देखा ही करता हूँ। प्रार्थना करते समय आँख बन्द करके मैं अपने अन्दर आत्मा-परमात्मा के दर्शन करने का दम्भ तो कर नहीं पाता, सो मैं अपनी आँखें खुली रखता हूँ और खुली आँखें इधर-उधर कुछ देखती ही हैं। हाँ, यह मैं नहीं जानता कि प्रार्थना के समय मेरी आँखें कितनी बार उस ओर चली जाती हैं। यदि आपको वह अच्छा नहीं लगता तो मैं उस ओर नहीं देखूँगा क्योंकि उस ओर देखना न देखना मेरे लिये कोई महत्व नहीं रखता।"

सुनकर संचालक विस्मित से बहुत देर मेरी ओर एकटक देखते रहे फिर बोले—"अच्छा, ठीक है आप जैसे जा रहे हैं चले जाइये। हाँ, जितना भी हो सके कुछ व्यावहारिक होकर चलने का प्रयत्न करते रहो।"

संचालक से जब बातचीत करके मैं अपने कमरे में गया तभी इन्दु आई और तकिया का एक धुला गिलाफ दे गई। बोली—"जीजी ने भेजा है।"

मैं बोला—"इन्दु! यह बात ठीक नहीं है?"

वह बोली—"तकिये पर कीचड़ जैसा गिलाफ लगाना ही क्या ठीक है ?"

"मेरा मतलब है कि लोग क्या कहेंगे ?"

"लोग यही कहेंगे कि आपके तकिये का गिलाफ अब वहुत शानदार हो गया है।" कहकर हँसती-हँसती चली गई।

उस तकिये के गिलाफ को न लेने के लिये कितनी ही बातें मैंदे उस छोटी लड़की को समझाई थीं; किन्तु उसके जाने के बाद सिहरते हाथों से उस गिलाफ को तकिये पर चढ़ा लिया। उस पर अंग्रेज़ी में लिखा था—"Forget me not."

सोने से पहले मैंने कितनी वार उस गिलाफ पर लिखा पढ़ा था—"Forget me not." फिर उसका एक-एक अक्षर और अक्षर में लगा एक-एक धागा देखा, जो उसने मेरे लिये रात-रात बैठकर काढ़ा होगा। क्योंकि दिन में काढ़ने के लिये तो समय था ही नहीं। और साथ ही "आप के लिये लता जीजी एक गिलाफ बना रही है" ऐसी सूचना वह छोटी लड़की एक दिन हँसते-हँसते दे गई थी।

मुझे पता नहीं उस गिलाफ के सम्बन्ध में क्या-क्या सोचता मैं सो गया था। दूसरे दिन जब उठा तो देखा लता और इन्दु द्वार से निकलकर चले गये हैं।

साधना, लता के उस अपने प्रति रहे ममत्व की याद करके मैं सोचता हूँ कि चौदह वर्ष की उस बालिका के प्रेम का रूप कितना विचित्र था। कितनी तन्मयता थी उसके उस स्नेह में ?

दूसरे दिन मैं अजमेर जा रहा था। इन्दु आई और चार आने मुझे देकर बोली, "जीजी ने दिये हैं। उनके लिये बालों के क्लिप लेते आइये।"

जब मैं बाज़ार पहुँचा तो सुन्दर-सुन्दर क्लिप बाज़ार में दिखाई दिये। मेरा मन उसे बहुत सुन्दर क्लिप देने के लिये

अन्दर ही अन्दर मचल उठा। सो मैंने दो रुपये वाला एक सुन्दर क्लिप खरीद लिया।

जब मैं आश्रम में लौटा तो इन्दु और लता को गेट पर खड़े ही पाया। मैं कमरे में गया तो पीछे-पीछे इन्दु आई और बोली, "कितनी देर कर दी। लता जीजी तीसरे पहर से गेट पर खड़ी हैं। बड़े वैसे हैं आप। और वह लाये ?"

"हाँ, लाया हूँ।" कहकर मैंने जेब से निकालकर वह क्लिप दे दिया। उस चमकते सुन्दर क्लिप को देखकर वह छोटी-सी लड़की मुँह फाड़े देखती ही रह गई। उसे हथेली में दबाये वहाँ से भाग गई।

१०

उस आश्रम में एक काका भी थे। उनके प्रति मेरे मन में बड़ी श्रद्धा थी। उस मानव को किसी भी प्रकार मैं समझ न पाता था। अहिंसावादी होकर भी क्रांतिकारी था। क्रांतिकारी होकर भी श्रद्धालु था। श्रद्धालु होकर भी बुद्धिवादी था। काका क्या थे? यह मैं कभी न जान सका। हाँ, जान पाया केवल इतना कि उनसे कोई भी अपने मन की अच्छी-बुरी बात कहते हिचकता न था। वे समूचे आश्रम के काका थे।

मैं खा-पीकर बैठा ही था कि मुझे अपनी कविता की कापी याद आई। आज अपनी प्रथम भेंट, उपहार के सम्बन्ध में मन के कुछ उद्गार लिखना चाहता था। मैंने उस कापी को इधर-उधर देखा पर कहीं भी दिखलाई न पड़ी।

मैं हैरान था कि आखिर वह गई कहाँ? सोचने लगा—मेरी उस प्रथम कृति को कौन उठा ले गया?

तभी—वे काका कमरे में आये और बोले—

"मास्टरजी! चलिये किधर ही घूम आयें।"

घूमने जाने के लिये मेरी बिलकुल प्रवृत्ति नहीं थी किन्तु जाना ही पड़ा। काका के आग्रह की अवहेलना मैं किसी भी प्रकार न कर सका।

आकाश के बादल धुल पुछकर साफ हो गये थे। वर्षा की चाँदनी उस पहाड़ी के नीचे पत्थरीले मैदान पर छिटक रही थी। हम दोनों कुछ दूर चलकर मैदान में पड़ी दो शिलाओं पर बैठ गये।

काका बिना किसी भूमिका के बोले—"मास्टरजी, आपके बारे में आजकल बहुत-सी बातें सुनने में आ रही हैं। कुछ लोग आज संचालकजी के पास आपकी शिकायत लेकर भी जाने वाले थे। मैंने उन सबको रोक दिया है।"

मैंने कहा था कि आज मैं आपसे बात करके संचालक से बात कर लूँ। संचालक से बिना कुछ कहे काम चल जाये तो यही ठीक रहेगा।

मैंने पूछा—"क्या शिकायतें हैं मेरे विरुद्ध उन लोगों की ?"

वे बोले—'यह देखिये' कहकर उन्होंने कोट की जेब से एक कापी निकाली जिसमें मेरे 'प्रेम-गीत' लिखे थे। बोले—"यह आप ने किसके लिये लिखे हैं ? एक आश्रमवासी ने लाकर दिये हैं।"

मैंने कहा—"वैसे सभी जनरल हैं किन्तु प्रेरणा मुझे लता से मिली थी।"

"और आपने आज उसे एक क्लिप भी उपहार स्वरूप लाकर दिया है। क्या यह भी सच है ?"

"उसने चार आने देकर क्लिप मँगाया था। किन्तु चार आने का कोई अच्छा क्लिप नहीं मिल रहा था, सो मैंने एक बढ़िया क्लिप लाकर दे दिया। आप चाहें तो उस पर अधिक खर्च हुए पैसे दिला दीजिये।"

"एक साहब कह रहे थे आप उसके हिस्से का आटा पीसकर दे देते हैं ?"

साधना बीच ही में बोली—"आटा पीसकर दे देते हैं इसका क्या अर्थ हुआ ?"

मैंने कहा—"साधना, बात यह थी कि उस आश्रम में सभी सदस्यों को कुछ निश्चित वजन में आटा पीसकर देना होता था। लता से आटा पिसता न था, सो सदा ही मैं उसके हिस्से का पीस कर उसे दे देता था। और मेरे हिस्से का सूत वह कात देती थी

क्योंकि सूत कातना मेरे लिये कठिन काम था—सो वह सब मैंने काका से कह दिया ।"

फिर काका ने कहा—"और आज उस पगली ने एक नया कौतुक कर डाला है । लता अपनी कुछ सहेलियों के साथ कहीं पास ही घूमने गई थी । वहाँ बैठे सब बातें कर रहे थे ।

तभी लता ने अपने दायें हाथ की चूड़ियाँ एक पत्थर पर मारीं और बोली—"अगर आधी चूड़ियों से कम फूटेंगी तो मेरा विवाह मास्टरजी से हो जायेगा । यदि आधी से अधिक टूट गईं तो नहीं होगा ।"

साधना बोली—"बड़ी विचित्र लड़की थी । शरत बाबू की एक कहानी 'अनुपमा का प्रेम' में भी ठीक इस प्रकार का एक करेक्टर अनुपमा है । पढ़ा है आपने ?"

मैंने कहा—"हाँ वह भी बहुत कुछ इसी प्रकार की ।"

साधना बोली--"और बात उन संचालकजी तक नहीं पहुँची ?"

मैंने कहा—"हाँ पहुँची थी । दूसरे दिन उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुलाया । बोले—"जिस बात का सन्देह मैं पहिले से कर रहा था, वही हुआ है । तुम्हारा सम्बन्ध लता के साथ कहाँ तक है ?"

"जहाँ तक एक संस्कारी चरित्रवान युवक का हो सकता है ।"

"और शारीरिक बिल्कुल नहीं ।"

"ऐसा तो नहीं कह सकता कि बिल्कुल ही न था । थोड़ा-सा तो था ही । जैसा कि आप जानते हैं एक दिन इन हाथों ने उसके अचेत शरीर को गली से उठा.........।"

वे बीच ही में बोले—"इस बात को जाने दो और कुछ बताओ ।"

"और एक दिन लता छत पर गा रही थी—दो आश्रमवासी और थे । बाजा मैं बजा रहा था । लता गा रही थी । गाते-गाते चीख पड़ी । उसकी पीठ में एक जहरीले कीड़े ने काट लिया था ।

वह छटपटाती छत की फर्श पर गिर पड़ी। वह अपनी पीठ तक अपने हाथ नहीं पहुँचा सकती। वे दो आश्रमवासी थे आपके द्वारा सिखाये गये नैतिक नियमों में बंधे हुए। सो मैंने ही उसके ब्लाऊज में हाथ डाल कर पीठ पर चिपटे छोटे से कनखजूरे को छुटाया था, पैर के जूते से कुचल डाला था। यह है हमारा दूसरा शारीरिक सम्बन्ध। इससे अधिक मैं कुछ नही जानता।"

'हूँ' कहकर वे चुप हो गये फिर बोले—"अच्छा! अभी तुम जाओ।"

मैं वहाँ से लौटकर अपने कमरे में आया। वहाँ देखा—मेरे बिस्तर पर एक छोटी-सी स्लेट पड़ी थी। उस पर कुछ लिखा हुआ था।

मैंने उस स्लेट पर लिखा पढ़ा—"मास्टरजी!"

आजकल मेरे मन की कैसी दशा है सो सब आप जानते हैं। मैं चाहती हूँ कि आप मुझे अपनी दासी बना लीजिये। आपका उत्तर यदि 'हाँ' में हो तो सही का और 'ना' में हो तो 'कट्टा' का चिन्ह स्लेट पर लगा दीजिये। मैंने उस पर सही निशान लगा दिया था।

थोड़ी देर में लता द्वार के पास आ खड़ी हुई। मैंने धीरे से उस स्लेट को उठाकर बिना कुछ कहे उसे दे दिया। वह उस स्लेट को लेकर अपनी जिज्ञासा मिटाने के लिये वहाँ से भागती चली गई।

थोड़ी ही देर में लता के कमरे से उसका कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा। वह गा रही थी आश्रम भजनावली का एक गीत—

"तड़पत बीते दिन रैन"

किन्तु उस स्वर में विरहणी की वेदना न होकर, थी किसी अभिसारिका की अपने प्रेमी से मिलने की आतुरता!

काका ने मुझसे आगे प्रेम गीत न लिखने के लिये कहा था।

मैंने कभी किसी की बात जीवन में नहीं मानी किन्तु काका इतने भले थे कि उनकी आज्ञा की उपेक्षा मैं किसी प्रकार न कर सका। मैंने अपने व्यथा, वेदना भरे उन गीतों को फाड़कर फेंक दिया और फिर कभी गीत नहीं लिखे।

सुनकर साधना अपनी अँगुलियों को जोर-जोर से दबाती माथे पर सरकाने लगी।

तीसरे दिन लता के पिताजी बाहर से आ गये उस दिन काका, संचालकजी और लता के पिताजी के बीच मेरे और लता के अतीत, वर्तमान और भावी सम्बन्धों के सिलसिले में बातें होती रहीं; क्या निश्चय हुआ सो मैं नहीं जान सका। न लता ही जान पाई क्योंकि यदि उसे पता चलता तो अवश्य ही वह सूचना इन्दु के सहारे मुझ तक आ चुकी होती।

उस दिन संध्या समय मैं बच्चों को लेकर पहाड़ी नाले की ओर गया और अपनी उसी शिला पर जाकर बैठ गया। बैठते ही मेरी आँखें उस सारस के जोड़े को खोजती नाले की ओर गईं। यह देखकर मैं आशंका में डूब गया कि उस जोड़े में से मात्र नर था। मादा वहाँ नहीं थी।

यह देखकर और अचरज हुआ कि बच्चे उस अकेले सारस के अति निकट जा पहुँचे हैं किन्तु वह ध्यान मग्न तपसी की भाँति वहीं चुपचाप खड़ा है।

मैं भी उस ओर चल दिया। पास जाकर देखा—नाले के एक पत्थर पर मृत सारसी पड़ी थी। उसकी गर्दन उस उठे हुये पत्थर पर पड़ी थी। आधी इधर और आधी दूसरी ओर। सारसी का मुँह फट गया था। कौन जाने कैसे उसका प्राणान्त हुआ होगा और मृत्यु की कितनी यंत्रणा उसे उठानी पड़ी होगी; किन्तु जिस परिताप से आहत वह सारस वहाँ खड़ा था, सो मैं कभी नहीं भूल पाता।

जैसे-जैसे वह गर्दन को उठाये रखना चाहता था; किन्तु वह

किसी भी प्रकार ऊँची न रह पाती थी। बार-बार झुक जाती थी। उसके गले से एक प्रकार की आवाज़ रह-रहकर निकल उठती थी। निश्चित रूप से वह कराह रही थी जो अपनी उस प्रिया के वियोग की व्यथा को हलका कर लेने का मात्र असफल प्रयोस था।

साधना, मैंने देखा—धीरे-धीरे उसकी गर्दन लटकती गई, झुकती गई और झुक कर धरती पर जा टिकी। धीरे-धीरे उसकी वे लम्बी टाँगें झुकीं और वह उसी सारसी के पास उसके हृदय से सटता-सा गिर पड़ा।

जिस धरती को छोड़-छोड़कर वे दोनों युगल प्रणयी जाने कितनी बार आकाश में उड़े थे, सो आज वहीं नाले में, उसी धरती पर शान्त नीरव पड़े थे—सारस ! सारसी !!

मैं नहीं जानता 'जीव शास्त्र' का इस बारे में अपना क्या मत है कि सारस अपने साथी की मृत्यु को सह पाता है या नहीं ; पर मेरा इन आँखों ने उस जीव को वियोग की व्यथा न सहकर अपनी प्रिया के शव पर प्राण त्यागते देखा था।

कवि वाल्मीकि की भाँति उस विगलित करुणा के फूट पड़ने से मैं रामायण की रचना तो न कर पाया; किन्तु सारस की उस युगल जोड़ी को कभी नहीं भूल पाता।

उस दुर्निवार अवसाद से भरा हुआ जब मैं आश्रम में लौटा तो यह समाचार पाया कि लता के पिताजी मुझ जैसे अज्ञात कुल शील युवक के हाथ में अपनी बेटी का हाथ नहीं देंगे।

सुनकर लगा जैसे मेरी सारसी मर गई है और मैं भी उस सारस की भाँति टूट जाऊँगा। चुपचाप चारपाई पर जा पड़ा। सारी रात लम्बी-लम्बी सांस लेता छटपटाता रहा। फिर चार बजे मैंने अपने कमरे में एक छाया को प्रवेश करते देखा।

वह छाया धरती पर इस प्रकार बैठ गई कि उसका मुँह मेरे कान के अति निकट था। उस कमरे में प्रकाश नहीं था। पिछली

खिड़की से धुँधला-धुँधला प्रकाश छा रहा था। उसी धुँधले प्रकाश में लता के हाथ में थामा हुआ एक रूमाल अपनी ओर बढ़ते मैंने देखा।

मेरी ओर उस रूमाल को बढ़ाकर वह बोली—"यह आँसुओं से भरा रूमाल ही मेरी निशानी है। इन्हीं अपने स्नेह के आँसुओं की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि यदि पिताजी ने मेरी बात नहीं मानी तो मैं अपने प्राण दे दूंगी।" सुनकर मैं काँप गया।

मैंने उस रूमाल को इस प्रकार से अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया कि लता की अँगुलियाँ मेरे हाथ से छूने न पाये।

उस रूमाल को लेकर मैंने कहा—"लता! तुम नहीं जानतीं कि मैं किस प्रकार जीवन-मृत्यु के बीच त्रिशंकु की भाँति लटका हुआ हूँ। मेरे साथ आने में तुम मिट जाओगी।"

वह हिचकती-सी बोली—"मास्टरजी, अब मैं किसी प्रकार भी आपसे दूर नहीं रह सकती। यदि आप अपने हाथों से मेरा गला मरोड़ कर प्राण ले लें तो वह भी मेरे लिये आनन्द की ही बात होगी।" कहते-कहते लता मेरी ओर झुकने लगी।

मैं हड़बड़ाता-सा उठ खड़ा हुआ। एक ओर खड़ा होकर बोला—"लता! मेरे न घर-द्वार है, न हाथ में दो पैसे। कैसे कहाँ रहोगी मेरे पास?" वह सिसकती-सी बोली—"आपके साथ यदि धरती का बिछौना और आकाश की चादर भी मिल जाय, तो मैं अपने को भाग्यवान मानूँगी मास्टरजी। मैंने आपको मन ही मन वर लिया है। सावित्री की भाँति मैं आपको जीतकर छोड़ूँगी।" कहती-कहती वह चली गई।

और साधना, तीसरे दिन ही मैंने इन्दु के मुँह से सुना कि आज शाम को किसी प्रौढ़ व्यक्ति के साथ उसके विवाह संस्कार की विधि मनाई जाने वाली है। यह सुनकर तो मेरी

साँस रुकने लगी—कि लता से उस प्रौढ़ व्यक्ति की एक घंटे तक बात-चीत भी हुई थी। उसने बात करने के बाद ही उससे विवाह करना स्वीकार किया है।

वह सूचना पाकर मुझे लगा जैसे मेरी सारसी मेरी नहीं मुझे धोखा देकर कहीं चली गई है। फिर सोचने लगा—पक्षी होकर सारस-सारसी एक दूसरे के लिये प्राण दे सकते हैं; किन्तु कैसी है यह मानवी लता जो मेरे लिये प्राण देने की बात कहकर उस प्रौढ़ से बात करने से पूर्व एक मिनट के लिये भी मेरे पास नहीं आई।

जिस प्रकार मेरी उपेक्षा की गई, जिस प्रकार मुझे ठगा गया सो याद करके मैं अपने बिछौने पर फूल-फूलकर निःशब्द घंटो पड़ा रोता रहा।

तभी मेरे माथे पर टप्‌टप् दो बूँद गिरे। मैंने साधना का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"क्यों ? क्या हुआ ?"

उसने आर्द्र कंठ से कहा—"कुछ नहीं।" फिर मैं बोला—और साधना ! मैंने अपनी लता को उस प्रौढ़ व्यक्ति के साथ हवनकुण्ड के चारों ओर घूमते देखा। उसका एक-एक पग जो भाँवरों की पूर्ति करने के लिये बढ़ रहा था, लग रहा था जैसे मेरी गर्दन पर पड़ रहा है। लगा जैसे मेरा गला रुँधा आ रहा है। जैसे बाईं ओर कुछ गिरा जा रहा है और साधना, हार्ट अटैक का मेरा वह पहला दौरा था।

मैं उस कमरे में कुछ देर बेहोश पड़ा रहा। तब वह छोटी इन्दु आई। पता नहीं वह कितनी देर से मेरे पास बैठी थी। जब मुझे होश आया तब वह पहाड़ी लड़की मेरी गोद में पड़ी सिसक रही थी।

वह सिसक-सिसक कर रो रही थी—"भय्या ! तुम देख लेना लता जीजी को भगवान् कभी क्षमा नहीं करेंगे। मैं अब लता

जीजी का मुँह तक नहीं देखूँगी मैं—"

"तब मैंने अपनी उस छोटी बहिन को, जिसके मुँह से जीवन में मैंने अपने लिये पहिली बार 'भय्या' शब्द सुना था। छाती से चिपटा लिया।

पता नहीं फिर कितनी देर तक हम दोनों कमरे के उस अंधकार में सुबकते रहे, हिचकते रहे—रुक-रुक कर सीत्कार! फिर दीर्घ निश्वास!! और उधर सामने ही बने उस विवाह-मण्डप के पंडितों का समवेत् स्वर सुन पड़ रहा था—

ओ३म् स्वाहाऽऽ!

प्रजापते स्वाहाऽऽ!!

११

प्राय: लोग क्रांतिकारियों की साहस भरी कहानियाँ पढ़कर उनके प्रति श्रद्धा से सिर झुका लेते हैं। बहुत से उन लोगों की मन-ही-मन पूजा करने लगते हैं जो कभी देश के लिये जेल गये थे। किन्तु साधना! उस त्यागी क्रांतिकारी एवं देश-भक्ति के जीवन में रहकर मैं एक बड़े सत्य को पा सका हूँ।

मैं तो कहता हूँ कि उन क्रांतिकारियों एवं देश-भक्तों में बहुत से मानव इस प्रकार के होते हैं, जो मात्र आत्महत्या की प्रेरणा से ही ऐसे कामों में जा मिलते हैं।

जब लता इस प्रकार आँसुओं से भरी निशानी देकर मुझे सदा-सदा के लिये आँसू बहाने के लिये छोड़कर चली गई तो लगा, जैसे इससे बड़ी उपेक्षा और मूर्ख बनाने की बात इस धरती-तल पर कहीं नहीं हो सकती।

इस घटना के बाद आश्रम में मेरी कोई भी दिलचस्पी न रह गई थी। मैंने क्रांतिकारी पार्टी के सदस्यों से मिलना-जुलना और अधिक बढ़ा दिया। उस समय पार्टी एक एक्शन करना चाहती थी। एक अंग्रेज अधिकारी के अत्याचारों को सदा-सदा के लिये समाप्त कर देना चाहती थी। प्रस्ताव सामने आते ही मैंने कहा—

"इसे मैं लीड करूँगा।" और पार्टी द्वारा यह काम मुझे दे दिया गया। रिवालवर और बारह कारतूस मेरे सुपुर्द किये गये।

मैंने कैसे उस कर्त्तव्य को निबाहा, वह सब नहीं कहता किन्तु इतना बता देता हूँ कि वह साहब उस शहर के चौराहे पर

रात को दस बजे मार दिया गया। उसके बाद जाने कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे भटकता रहा, सो फिर कभी सुनाऊँगा।

अब तुम्हें अपने विवाह की बात सुनाता हूँ।

आपका विवाह हो चुका है नितिन बाबू?

"हाँ, हो चुका है!"

"कब, कहाँ, कैसे? और वे कहाँ हैं?"

"सुनिये तो।"

"सुनाइये।"

यह बात सन् ४७ की थी। भारत स्वतन्त्र हो चुका था। मेरा वांरट कैंसिल कर दिया गया। लुकते-छिपते भी इस बीच मैं कभी घर न लौटा था।

जब घर लौटा तो माँ-बाप अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे। पिताजी का अब वह दर्प टूट चुका था। घर गृहस्थी की समस्या में और जो कुछ भी करने-धरने का था वह सब कुछ थोड़े ही दिनों में मैंने सँभाल लिया।

एक दिन गर्मी की लम्बी दुपहरिया में मैं घर के भीतर कमरे में बैठा कुछ लिख रहा था। कुछ क्या—अपने एकाकी जीवन की कुढ़न, जलन से छटपटाहट का शब्द-चित्र ही बना रहा था। तभी माँ ने पुकारा—

"नितिन।"

"जी, आया जी।"

मैं माँ के अति निकट जाकर बैठ गया। माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा—"बेटा! वह जो बोस बाबू हैं तेरे पिताजी के दोस्त उनकी लड़की से तेरा............।"

"नहीं माँ! मैं उस लड़की को जानता हूँ मैं वैसा नहीं होने दूँगा। और मैंने कितनी बार कहा कि आप उसकी चिन्ता न करिये। जब उचित समझूँगा, मैं कर लूँगा आप इतना.......।"

कहते-कहते मैं वहाँ से उठ गया।

माँ ने इन पिछले मासों में जाने कितने प्रस्तावों को मेरे सामने रक्खा, किन्तु मैं किसी को भी स्वीकार न कर सका।

"जानती हो क्यों ?"

"नहीं तो !"

"मैं चाहता था ऐसा जीवन संगी जिसे देखकर कभी—लता मिले तो कुढ़ मरे, जल मरे।"

"ओह ! यह बात थी। आप पुरुष लोग भी कैसे होते हैं।" कहते-कहते साधना मुस्काने लगी। मोमबत्ती के पीले प्रकाश में वह कमनीय-सी हो उठी थी। उसकी वे उजली आँखें अति तरल हो उठीं।

मैं कहे जा रहा था—

"साधना, जिस मुहल्ले में मैं रहता था उसी में एक लड़की रहती थी, जिसे मैंने कभी पढ़ाया भी था। वह इतनी गरीब थी कि अपनी फीस भी न जुटा पाती थी, फिर ट्यूशन की तो बात ही नहीं उठती। सो बचपन में कुछ पूछने-ताछने घर पर ही कभी-कभी आ जाती थी।

इतने दिनों बाद जेल से लौटा तो मैं उसको भूल चुका था। उस समय जाने क्यों मुझे रह-रहकर उसी की याद आ रही थी—सोचा—आजकल मैं उधर हो आऊँगा।

एक दिन मैं तीसरे पहर चुपचाप बैठा अपने विगत जीवन के चित्र बना-बनाकर मिटा रहा था। तभी मुझे सारस-सारसी की वह युगल जोड़ी याद आ गई। सोचने लगा—कैसे वह पत्थर पर गर्दन लटकाये पड़ी थी और कैसे उस वियोगी सारस ने खड़े-खड़े योगी की भाँति अपने प्राण त्याग दिये थे। क्या मुझे भी कहीं ऐसा साथी मिल सकेगा ? कहीं भी ? कभी भी ! इस इतनी बड़ी धरती पर।

कितने दिनों से ऐसे ही किसी साथी को खोजते-खोजते युग बीत गया पर कहाँ हुआ वह प्राप्त ?"

कहते-कहते मैंने करवट बदली। साधना ने अपनी हथेली माथे पर से हटाकर मेरे गाल पर रख ली और धीरे-धीरे उस बायें गाल को थपथपाने लगी।

मैंने कहा—"साधना ! मैंने कभी जीवन में शराब नहीं पी, कभी परनारी, परकन्या को नहीं छुआ। छूने का मेरा अर्थ है जैसे वासना जागते पर पुरुष नारी को छूता है—काँपता सिहरता उससे एकाकार कर लेने के लिये आतुर हो उठना, सो वैसा मैंने कभी नहीं किया था। किन्तु वैसा एकाकार कर लेने के लिये मुझे लगता था जैसे अन्दर ही अन्दर कुछ फटा-सा जा रहा है। कभी-कभी रात भर मैं अपने अंगों को तोड़ता-मरोड़ता रहता था; पर कोई किधर से भी अपने को मिटा डालने की राह न पाता था।

उसी तड़पन में मैं एक होटल में जा पहुँचा। जहाँ सुनता था संमूची शारीरिक भूख मिटा डालने की सुविधा दी जाती थी। होटल के एक कोने में मैं चुपचाप बैठा था। उस भाग को कपड़ा और कार्डबोर्ड के सहारे अलग कर दिया गया था।

बैरा आया। मैंने लैमन पी, बहुत तेज और वेजीटेबल कटलेट्स का आर्डर दिया। थोड़ी देर में वह उस भुरेभुरे बादामी रंग के पदार्थ को सामने रखकर बोला—"साब ! वह भी चाहिये ?"

"क्या मतलब !"

"साब ! हम लोग वह भी सप्लाई करते हैं।"

सुनकर अंगूठे से लेकर मस्तिष्क की समस्त शिरायें झनझना उठीं। और हाँफते से मैंने कहा—

"ले आओ।"

थोड़ी देर में सहमती-सी एक तन्वाङ्गी शिकारी के जाल में

फँसी चकित एवं शंकित नयनों से इधर-उधर देखती वह मृग-नयनी मेरे उस पार्टीशन के सामने आकर खड़ी हो गई।

किसी प्रकार मैं उससे यह न कह सका कि—'आईये! बैठिये।'

सोचने लगा—"जाने कौन है यह? वह न हो और मैं कहीं कुछ अशिष्टता कर बैठूँ?"

तभी पीछे से वह बैरा आया और स्वर में तिक्तता-सी भर कर बोला—

"बैठती क्यों नहीं? बहुत अच्छे बाबू हैं।"

साधना! वह बैठ गई। थोड़ी देर पहिले तुमने जिस प्रकार की अनुभूति मुझे देनी चाही थी ठीक वैसी ही—अब मुझे याद आ रहा है ठीक वही व्यथा वेदना, टीस दर्द अपने को हँसते-हँसते कृत्रिम मुस्कानें बिखेर-बिखेर कर मिटा देने की दारुण यंत्रणा मैंने उसकी पुतलियों में देखी थी।

मैंने पूछा—"आप कहाँ रहती हैं?"

"....................।"

"नहीं बतायेंगीं?"

"...............।"

"आप कहाँ तक पढ़ी लिखी हैं?"

"फाइनल कर रही हूँ।"

वह किसी भी प्रकार उत्तर नहीं दे पा रही थी—"आप पेशेवर हैं?"

'नहीं' कहकर वह सुबक उठी।

सिर इस प्रकार झुका लिया कि मैं किसी भी प्रकार उसे न देख सकूँ!

"कितनी बार यहाँ आई हैं?"

"....................।"

"क्या बता सकोगी ?"

मुट्ठियाँ भींचकर साँस रोकती बोली—"पहिली बार।"

मैंने सन्देह भरे कंठ से कहा—"सबके लिये यही रटा-रटाया तुम्हारा उत्तर होगा। क्यों जी ?"

"......................।"

"बताइये न ?"

"......................।"

"बोलिये न।"

सुनकर उसकी मुट्ठियाँ खुल गईं। उसकी आँखों से झर-झर आँसू गिरने लगे।

"आपको इन आँसुओं पर भी विश्वास नहीं आता ?"

"सुनकर मुझे लता के आँसू भरे रुमाल की याद आ गई और मेरे मुँह से निकल गया—"नहीं !"

यही बात मैंने उस दिन तुम से भी साधना कही थी कि संसार में पवित्र सच्चे आँसुओं के साथ आँसुओं की एक भिन्न जाति भी है। भिन्न प्रकार भी है।

क्रोकोडायल टीयर्स !

कहते-कहते मेरी आँखें छलछला आईं। तभी साधना ने मेरा गाल थपथपाकर कहा, "कहे जाइये नितिन बाबू।"

और मैंने बाँया हाथ उठाकर धीरे से आँसू पोंछ डाले फिर गला साफ करके बोला—

"साधना ! लता के झूठे आँसू देखकर भी मैं उस पर विना विश्वास किये न रह सका।"

तभी वह बोली—"देखिये ! जल्दी जाना है।"

"तो आप फिर आई क्यों ?"

"आना पड़ा इसीलिये।"

"क्यों ?"

"……………………।"

"बताइये न !"

"……………………।"

"नहीं बतायेंगी ?"

"……………………।"

उस तेज पेय पदार्थ का आधा पेग जीवन में पहिली बार मैं चढ़ा चुका था। मैं उठा और लेमन मिश्रित उस पेग का एक घूँट पीकर उसके अति निकट जाकर बैठ गया। मैंने ठोड़ी उठा कर उसकी आँखों की भाषा पढ़नी चाही। वे आँखें ! कमल की सद्यप्रस्फुटित फाकें ! वे ओंठ गुलाब की पंखुड़ियों से मनोरम और उन पर बिखरी स्निग्ध सिमटिन-सी !

नशा मुझे आ चुका था। लगता था, जैसे मैंने किसी सिद्धि के द्वारा अपने शरीर का भार खो दिया है। मैं चाहूँ तो पिछली खिड़की से निकलकर उस रूपसी से लिपटा निर्बन्ध पक्षी की भाँति आकाश के चक्कर काट आ सकता हूँ। कभी-कभी मुझे लगता जैसे चारों ओर पानी की लहरें-सी उठ रही हैं, जिनमें वह पास-ही बैठी सुन्दर रंगीन हिलती-डुलती वह मछली-सी हल्की थिरकन के साथ उन लहरों से खेल रही है।

एक लहर आई और चली गई। कुछ चेत-सा हुआ और मैंने उन आँखों, उन ओठों को कुछ पहिचान-सा लिया--और बोला--

"तुम ! माधुरी ?"

"जी !"

और मैंने उसका सिर अपनी छाती से चिपटा लिया। कुछ देर उसी तरह बैठा रहा फिर बोला—

"तुम्हें यहाँ क्यों आना पड़ा ? माधुरी !"

"पिताजी पिछले साल टी० बी० से मर गये।"

"माँ को भी वही रोग हुआ है। इलाज के लिये, पेट की

ज्वाला को बुझाने के·······।" साधना ! यह वही लड़की थी जो बचपन में मेरे घर आया करती थी।

कहते-कहते वह मेरी छाती से चिपट गई, इतने जोर से कि मेरी साँस रुकने लगी। मैंने कहा—'चलो।'

"कहाँ ?"

"तुम्हारे घर ?"

"मैं यहाँ माँ से कहकर नहीं आई हूँ।"

"फिर यहाँ आने का यह घिनौना मार्ग किसने बताया ?"

कहते-कहते दूसरी लहर आई और मैं उड़ गया। कुछ देर चुप रहा फिर बोला—"कौन था वह पातकी कीट ?"

माधुरी आर्द्र कंठ से बोली—"पातकी नहीं कहिये उसे। वह यहाँ आई थी रुपयों के लिये, जिसके अभाव में उस जैसी जाने कितनी लड़कियाँ यहाँ आती हैं। उनके आने का कारण होता है रुपयों का अभाव और आप लोगों के आने की वजह होती है उसी वस्तु की बहुलता ! हम दोनों ही जब अति सुख अति दुख को नहीं सहार पाते तब यहाँ आ जाते हैं।" कहते-कहते उसकी उन तरल आँखों में ज्वालायें सुलग उठीं।

मैंने कहा—"तब चलो। मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।"कहकर मैं खड़ा हो गया।

घंटी बजाई। बैरा आया। मैंने उसे बिल लाने के लिये कहा-

कुछ ही देर बाद वह पचास रुपये का बिल ले आया। मैंने कहा—बिल अलग-अलग लेकर आओ। खाने का अलग और यह अलग।

"खाने का सात रुपया है साब ! और इसका बिल नहीं बनता।"

सुनकर मैंने उसे सात रुपये दे दिये। वह बोला—

"और बाकी रुपये ?"

"चले जाओ यहाँ से।"

वह चला गया और मैं खड़ा होकर बोला—"चलो! मेरे पीछे-पीछे आ जाओ!"

वह जो थोड़ी बहुत लहरें उठ रही थी सो तब तक मिट चुकी थीं।

जैसे ही मैंने उस होटल की सीढ़ी पर उतरने के लिये पैर रखा वैसे ही पीछे उस बबर शेर जैसे मानव को देखा जिसकी गर्दन और मुँह पर बबर शेर की तरह सुनहले बाल न होकर थे काले बाल—काली दाढ़ी मूँछ नशे में आरक्त आँखें, क्रोध से अति सुर्ख हो उठी थीं।

बोला—"साब! जरा इधर आइये!" सुनकर मैंने माधुरी से वहीं खड़े रहने के लिये कहा—मैं उस सरदार के पीछे-पीछे चलता गया। वह छत पर बने एक कमरे में ले गया। वहाँ दो आदमी पहिले से बैठे थे। कमरे में उन दोनों के पास ही सिगरेट का धुआँ छोड़ती एक प्रौढ़ा दुबली-पतली औरत बैठी थी। उन तीनों मानवों को देखकर सहज ही में कोई समझ सकता था कि वे कैसी दुनिया के प्राणी हैं।

सरदार ने वहाँ खड़े होकर कहा—

"इससे निबट लो। उसे साथ लिये जा रहा है। रुपये भी नहीं चुका रहा है।" सुनकर वह दुबली-पतली औरत बिल्ली की भाँति मेरी ओर आँखें चमकाने लगी। और वे दोनों आदमी बाहों की आस्तीनें ऊपर चढ़ाते-चढ़ाते मेरी ओर आये।

नाटक के सूत्रधार वे होटल के मालिक सिख महोदय वहाँ से चले गये थे।

उन दोनों पशुओं में से एक ने मुँह से शराब की बदबू छोड़ते कहा—"पैसे रख दे नहीं तो हम जैसा कोई देखा न होगा बाबू! टँगड़ी चीर कर रख दूँगा।"

सुनकर मेरे रोम-रोम में आग लग गई। उनकी बात का उत्तर देना भी मैंने अपमान समझा। वह औरत बैठी-बैठी मेरी ओर घूरे जा रही थी। घूरते-घूरते उसके गालों की हड्डियाँ और उभर आई थी। उसकी वह पतली गर्दन छिपकली की भाँति तिरछी हो गई थी। एक ओर पान की पीक थूकती बोली—

"देखता क्या है करीम! जो कुछ है छीन ले और धक्के मार कर चलता कर। हरामी चलते हैं शौक करने और पैसे चुकाने में जान निकलती है।"

सुनकर वे दोनों मेरी ओर बढ़ने लगे और साधना! अपने इन्हीं पंजों से जिनसे तुमने अभी वे लोहे की शलाखायें मुड़ती देखी थीं, उन्हीं पंजों से एक झपाटे में मैंने उन दोनों की गर्दन पकड़कर दबाई। वे गले से 'घर्र-घर्र' जैसी आवाज निकालते-वहीं फर्श पर अचेत से होकर गिर पड़े।

मैंने उस औरत की ओर देखा तो उसका चेहरा सफेद पड़ गया था। पान की पीक गले में निगलती बोली—

"साब!" और मैं बिना कुछ सुने उस छत से नीचे उतर आया। तभी मैंने देखा सरदार होटल के एक कोने की ओर अन्धेरे में माधुरी को बाँह में लपेटे घसीटता लिये जा रहा था। मैं उसी ओर दौड़ा।

उस धुँधले प्रकाश में देखा—एक आदमी ने माधुरी का मुँह बन्द कर लिया था। सरदार कह रहा था—"नीचे वाली कोठरी में मुँह बन्द करके पटक दो। यह माल बाहर जायेगा। समझा?"

जी चाहा उन दोनों को मुक्कों से मार-मार कर वहीं बिछा दूँ किन्तु बखेड़ा न बढ़े और अधिक होहुल्ला न हो यही सोचकर बबर शेर जैसे सरदार की दायें हाथ से गर्दन पकड़ कर बायें हाथ का मुक्का उसकी रीढ़ की हड्डी पर मारकर मैंने कहा—

"छोड़ दो इसे! इससे कहो कि छोड़ दे, बोलो!"

उस सरदार ने रुकते कंठ से कहा—"छोड़ दे !"

माधुरी को उसने छोड़ दिया। मैंने एक धक्के से उस सरदार को कोने की ओर ठेलकर कहा—"चलो, आ जाओ !"

हम दोनों होटल के बड़े हॉल में होकर लौटे। शराब की तेज तीखी गन्ध, पाउडर और स्नो की गन्ध में मिलकर चारों ओर छा गयी थी। वह ऐसी गन्ध थी जिसमें मेरा दम घुटने लगा। मैं जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाये माधुरी को लिये होटल से नीचे उतर आया।

टैक्सी से माधुरी को घर पहुँचा दिया।

अब आगे मैं उस बात को नहीं कहता। संक्षेप में यह हुआ कि रुपया पैसे खर्च करके भी मैं माधुरी की माँ को न बचा सका।

१२

माधुरी के विनम्र स्वभाव, पिछले परिचय और जो कुछ भी मैंने उसके लिए किया था, उससे अति निकटता का अनुभव करके मैंने एक दिन उससे विवाह का प्रस्ताव रक्खा। सुनकर वह पीली-सी पड़ गई।

मैं सोच रहा था—मेरे प्रस्ताव को सुनकर वह सजल नेत्र हो उठेगी। फिर लाज भरी आँखों से मेरी ओर देखेगी। लता-सी काँपती मेरी छाती पर सिर रखकर सीत्कार-सा कर उठेगी। मैं उन्हीं आह्लाद भरे निश्वासों और आनन्दाश्रुओं की कल्पना कर रहा था और देखा उससे नितान्त विपरीत।

"सो ऐसा क्यों हुआ?" आश्चर्य से साधना ने पूछा।

मैंने कहा—"उस क्यों का उत्तर जानता तो इतनी बड़ी घटना मेरे जीवन में कैसे घट पाती।"

"कौन-सी घटना?"

"वही तो सुना रहा हूँ। जिसे सुनाने के लिये कई महीनों से मेरे प्राण घुट रहे हैं। किसे सुनाऊँ? इसी का समाधान न कर पाता था। तब उसी घटना को लिखने बैठ गया था।

आज की रात जिसके हाथ को अपने गाल से चिपटाये लेटा हूँ उससे अच्छा पात्र अपनी उस घटना को सुनाने के लिये इस धरतीतल पर कहीं भी न मिलेगा। इसीलिये सुनाये जा रहा हूँ—"

और मैं सुनाने लगा—

"साधना, माधुरी का वह पीला मुँह सफेद हो उठा। मैंने उसके हाथ को लेकर अपनी ओर खींचा। उसने अपना

सिर मेरे कन्धे पर टेक दिया और सुबकने लगी।

मैंने पूछा—"माधुरी, मेरे साथ आना नहीं चाहती? क्या बात है?"

"...............।"

"बोलो क्या बात है?"

"...............।"

"बताओ माधुरी!"

"अब कुछ भी न पूछो नितिन बाबू!"

"तुम उदास क्यों हो गईं?"

"बस इतना ही जान लो कि मुझे स्वीकार है।"

"तो भी? कुछ तो बता......।"

"नहीं, बस!" कहकर वह कमरे से बाहर चली गई।

मैं वहीं बैठा-बैठा सोचने लगा—क्या इसका किसी के साथ गोपनीय प्रेम है? सोचकर अपरिसीम वेदना से मैं कांप उठा। तभी विचार आया—माधुरी, जिसका समस्त जीवन दुखदैन्य में ही पिसता रहा, घुटता रहा, सो किसी से प्रेम करेगी?

कैसा हूँ मैं भी मूर्ख...तो फिर...तो अच्छा, सोचती होगी ऐसे अवसर पर उसके आदरणीय पिता और ममतामयी माँ होती तो कितना..... ठीक!..... यही सोचकर वह वैसी आहत हो उठी है।

मैं कमरे से बाहर आया। माधुरी बाहर एक कोने पर पड़ी चटाई पर औंधी पड़ी थी। निःशब्द फूल-फूलकर रो रही थी। मैंने कंधों से पकड़कर उसे अपनी गोदी में लिटा लिया। अपनी अँगुलियों से उसके आँसू पोंछने लगा।

वे आँसू मैंने अपनी हथेली में भरकर अपने माथे से लगा लिये। यह सोचकर कि किसी नारी की आँखों से निकले मेरे लिए ये पहिले सच्चे आँसू हैं—अति पवित्र! अति पावन!!

धीरे-धीरे वे आँसू रुक गये। मेरी छाती में मुँह छिपाये कभी-कभी वह हिचक उठती थी। धीरे-धीरे बिल्कुल शान्त हो गई।

साधना, थोड़े ही दिनों वाद मेरी शादी होगई। किन्तु कभी मैंने उसे वह हँसी हँसते नहीं देखा जिसमें एक प्रकार का खुलापन होता है। जो बहती है अपने आप। जो फूटती है, स्वतः। बिखरती है फिर सिमिट कर समस्त चेहरे को दीप्त कर उठती है। ऐसी हँसी मैं उसके उस चेहरे पर कभी भी न देख सका।

एक दिन मुझे लगा—जैसे वह अति प्रसन्न है। वह दीप्ति, वह हास्य जिसे देखने के लिए मैं कितने महीनों से आतुर था।

तब हम दोनों बैठे सुबह की चाय पी रहे थे। उस समय वही सब कुछ उसके चेहरे पर मैंने देखा था। मैं उसे पत्नी के छोटे बच्चे की भाँति स्नेह से अभिभूत हो इन बाहों में भरकर बिछौने पर उठा ले गया।

पहिली बार मुझे लगा जैसे मैं प्रणयी हूँ और वह है मेरी प्रेयसी! मैं गीत हूँ और वह उस गीत की उठती तान! मैं वान हूँ और वह उसके छिद्रों से निकली ऐसी रागिनी जिसे सुनकर मुझ में वह जाग उठा जो मानव के जीवन में केवल एक बार ही उठता है और फिर कभी नहीं। फिर होती है उसकी आवृत्तियाँ... मात्र आवृत्तियाँ!! जिनमें कम्पन होता है किन्तु जड़ता लिये, जिनमें ज्वाला होती है किन्तु बुझी हुई।

मेरे सारे अंग काँप रहे थे। कंठ में वार-वार 'हिच' 'हिच' हो उठती थी। तव माधुरी को उठाकर मैंने अपनी ओर खींचा, तभी किसी ने कमरे का द्वार खटखटाया।

उस 'खट्-खट्' को सुनकर माधुरी मेरे उस भाव की उपेक्षा करती उठ खड़ी हुई और किवाड़ का कुण्डा खोल दिया।

सामने एक युवक खड़ा था। सुन्दर बलिष्ठ, ओठों पर मोहक

मुस्कान बिखेरता-सा। माधुरी ने बढ़कर बड़ी विनम्रतापूर्वक उससे नमस्कार किया। हम दोनों का परिचय कराया और उसी कमरे की ओर लौट आई।

मैं अभी तक अपनी साधारण मनोदशा में नहीं लौट पाया था। कंठ सूख गया था। कठिनाई से बोल पा रहा था। सो पानी के कुछ घूँट गले से नीचे उतारने के लिये कमरे से बाहर चला गया।

माधुरी ने पैसे देकर कुली को चलता किया।

जब मैं लौटा तो उन दोनों में कुछ बातचीत चल रही थी। जैसे ही मैं द्वार पर आया मैंने माधुरी को कहते सुना—

"हाँ पत्र कल शाम को मिला था!"

तब बिजली की एक कौंध की भाँति मेरे सामने सब कुछ स्पष्ट हो उठा कि क्यों थी वह आज इतनी खुली-खुली? क्यों आज वह वैसी निखर उठी थी? क्यों वह दीप्ति छा गई थी उस के समस्त चेहरे पर? क्यों हँस पाई थी वह वैसा मुक्त हास?

मैं पिछली रात देर से लौटा था। जब आया तो बिना खाये-पिये सो गया। जब सुबह उठा तो मैंने माधुरी को बिल्कुल बदला हुआ पाया। सो प्रसन्न तो वह पत्र पाकर शाम से ही होगी किन्तु मैं वह रहस्य समझ सका अचानक कमरे के द्वार पर आकर, पत्र की बात सुनकर।

शील, सभ्यता और शिष्टता की माँग थी कि अंदर ही अंदर ज्वाला जलने पर भी ऊपर से बर्फ की भाँति स्निग्ध, शान्त होकर मैं उस युवक से व्यवहार करता।

सो साधना! तुम कल्पना भी नहीं कर सकती कि कैसे किस संलग्नता से मैंने अपने उस अतिथि की आवभगत की थी;

जिन्होंने कुसमय में आकर मेरे उस सुख को छीन लिया था, जो जीवन में अमूल्य निधि की भाँति स्मृति के रूप में सदा दुबके रहते हैं। जैसा सुख मानव को जीवन में बार-बार नहीं मिलता।

माधुरी ने मुझे बताया था कि वे उसके दूर के भाई लगते हैं। मैं चाहता था कि कहीं किसी भी प्रकार कुछ क्षण मिल जायें जिनमें मैं अपने उन क्षणों को लौटा लूँ जो सुबह अचानक कमरे का कुंडा खटकने से, खो गये थे। आँखों की मौन भाषा से, मुँह से, शब्दों में बोली जाने वाली मानवी भाषा में मैंने माधुरी से अनुनय किया, आग्रह किया किन्तु मुझे लगा जैसे उस दिन माधुरी मेरी भाषा समझ ही नहीं पा रही थी।

तीसरे पहर मैं चुपचाप अपने कमरे में बिछौने पर पड़ा अपने दुर्भाग्य और माधुरी की उस उपेक्षा की चोट से आहत-सा करवटें बदल रहा था; तभी वह धीरे से किवाड़ खोलकर अन्दर आई।

लगा जैसे तप्त मरुस्थल में शीत नदी अपने कूल किनारे तोड़कर आ मिली है, जैसे विष खाकर आत्महत्या करने वाले उस प्राणी को जो विष की ज्वाला से छटपटा रहा हो और जो अपनी उस आत्महत्या के लिये पश्चात् की आग में जल रहा हो। उसे कोई डाक्टर जीवनदायिनी औषधि दे दे जिसे खाकर वह अपनी जलन-तपन सब कुछ मिटा डाले।

मैंने माधुरी के उस चेहरे में वह देखा जिसे देखने के लिये वैसी एक करुणा दृष्टिपात के लिये, उस एक मुग्ध-दृष्टि के बदले कोई भी भावुक प्राणी अपने प्राण तक दे सकता है।

वह आई और मेरे अति निकट आकर बैठी। मैंने रुँधे कंठ से कहा—"माधुरी! क्षमा करना। मैंने तुम्हारे विरुद्ध जाने क्या-क्या सोच डाला था। सचमुच कितना नीच हूँ मैं? तुम्हारे उस व्यवहार को मैंने अपने प्रति उपेक्षा समझा था, जो प्रत्येक भारतीय

नारी का अपने अतिथि के प्रति सहज सरल कर्त्तव्य होता है। माधुरी क्या तुम मुझे क्षमा………।" कहते-कहते मैंने उसका हाथ अपनी ओर खींचा फिर कुछ याद आजाने से मैं उठकर बैठ गया और 'कुंडा बन्द कर आऊँ' कहता-कहता उठने लगा—तभी वह धीरे से बोली—"अभी बाहर जाना है। टैक्सी बाहर आगई है।"

"कहाँ ?" उसका हाथ थामकर कहा।

"कहते हैं कि दिल्ली घुमा फिराकर दिखा दो।"

"थोड़ी देर बाद जाने से काम न चलेगा ?"

"फिर अँधेरा न हो जायेगा !"

और विवशता भरे कंठ से "अच्छा।" कहकर मैंने उसका हाथ धीरे से छोड़ दिया। चलते-चलते मेरा माथा थपथपा कर कंठ में स्नेह भरकर बोली—

"मैं जल्दी लौट आऊँगी।" कहते-कहते न जाने क्यों उसकी आँखें छलछला आईं। वह द्वार तक गई फिर कुछ सोचती-सी आई। उसके चेहरे की वह दीप्ति मिट चुकी थी। मेरे गले में बाँह डालकर उसने मेरे जलते माथे पर अपने काँपते ओंठ रख दिये।

तभी मैंने अति आग्रह भरे स्वर में कहा—"जल्दी लौटना माधुरी !"

"अच्छा" कहती-कहती वह कमरे से बाहर चली गई।

और साधना ! फिर कभी वह वापस नहीं लौटी। मैं सारी रात द्वार पर उसकी उस टैक्सी की आवाज सुनने के लिये छटपटाता-सा खड़ा रहा; किन्तु जो लौट आने के लिये गई ही न थी सो लौटती कैसे।

प्राची में उदित यह एकाकी शुक्रतारा जैसे जीवन भर मेरे अकेले रहने की भविष्यवाणी करता बुझ गया और साधना ! साथ ही मुझे भी बुझा गया।

बिछौने पर निष्प्राण-सा आकर लेट गया। कानों में पक्षियों के बिखरे 'चूँ चूँ चुट्ट चूँ' के स्वर सुन पड़ रहे थे। जिन स्वरों को लेकर कवि गीत लिखते हैं, चित्रकार उन गीत गाते पक्षियों को अपनी तूलिका के सहारे रंगों में चित्रित करते हैं—उस सौंदर्य को, स्वर के उस मिठास को अमरता देने के लिये।

किन्तु साधना। मुझे लग रहा था जैसे पक्षियों का वह कलरव मेरे कानों में ऐसे आ रहा था जैसे सुर-सुराते कनखजूरे कानों में घुस रहे हों।

अंशुमाली की वे कनक किरणें सामने खड़े तरु शिखाओं की हरियाली मिटाकर उन्हें सुनहले रंग में घोले डाल रही थीं और मुझे लग रहा था जैसे मेरे कमरे की दीवारों पर किसी ने कालौंच पोत दी है।

साधना! मैं चाहता था कि उस समय यदि कोई मेरी गर्दन दवाकर मेरे प्राण ले ले तो मैं अपनी समस्त सम्पत्ति उसके चरणों पर बिखेर दूँ। ऐसा निष्प्राण निर्जीव-सा मैं हो उठा था कि अपने प्राण त्याग देने की शक्ति भी मुझ में शेष नहीं रह गई थी।"

मेरे माथे पर टप्‌टप् कई आँसू गिर पड़े।

साधना रो रही थी।

१३

साधना की आँखों से टपके उन आँसुओं को अपने माथे से पोंछते हुये मैंने कहा—"साधना ! तुमने एक दिन कहा था कि किसी के आँसुओं पर कभी भी अविश्वास नहीं करना चाहिये किन्तु जिन आँसुओं पर मैं विश्वास करता हूँ वही मुझे जीवन भर आँसू बहाने के लिये छोड़ जाते हैं।" सुनकर साधना सुबक उठी।

सुनकर वह कुर्सी से उठकर मेरे सिहारने वाले कोने पर आ बैठी। उसने मेरा सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया।

मोमबत्ती की पीली छाया में उसका वह अति कमनीय चेहरा ऐसा मोहक ऐसा मनोरम हो उठा कि बहुत देर तक मैं उसके चेहरे पर लगी अपनी दृष्टि को वहाँ से न हटा सका।

लगा जैसे मेरे दुर्भाग्य की कहानी ने उसके किसी मर्मस्थल को छू लिया है। उसकी ठोड़ी के नीचे कई गड्ढे से बन उठते थे। उसके वे पतले ओंठ बार-बार खिंचने लगे। कैसे वे आँखें छलकती थीं, भरती थीं, फिर चू पड़ती थीं। मैं हाथ उठाकर उस के आँसू पोंछने लगा और आँसू पोंछते-पोंछते बोला—

"साधना, बुरा न मानना। जब से लता और माधुरी ने अपने आँसू ! नारी के आँसुओं को पानी से भी कम मूल्य का सिद्ध कर दिया, तब से नारी के इन आँसुओं पर से मेरा विश्वास उठ गया है। जब कोई रोती है, जब किसी नारी के आँसू मैं देखता हूँ—तो मेरा सारा शरीर जलने भुनने लगता है। जिसे मनोविज्ञान में Complex कहा है न ! सो सचमुच मुझे भी आँसुओं का कॉम्पलेक्स हो गया है।

सुनकर साधना का वह उदास चेहरा कुछ खिल-सा उठा। ओठों पर अति दयनीयता एवं सहानुभूति की करुण रेखायें खिंच उठी, और वह बोली—

"नितिन बाबू! ऐसे ही आदमियों को शास्त्र ने 'धरती के देवता' की संज्ञा दी है।

लता के आँसुओं का प्रकार समझकर भी आप माधुरी के आँसुओं को अति पवित्र मानकर माथे पर लगा सके थे और मुझे विश्वास है कि मेरे इन आँसुओं की भी आप 'क्रोकोडायल टीयर्स' समझने की हीनता न कर सकेंगे।"

"साधना!" कहकर मैं नहीं जानता कि मैंने उसे किस आँख से देखा होगा पर इतना जानता हूँ कि जिस तरह जिन आँखों से मैंने उसे देखा था, सो उसे वह सह न पाई।

उसने मेरी हथेली उठाई और अपने ओठों पर रख ली। मुझे लगा जैसे नारी का यह प्रथम चुम्बन है जो उसने सच्चे हृदय से मेरे प्रति समवेदना, स्नेह से अभिभूत होकर दिया है। मैं निर्निमेष हो उसे देखता रह गया।

अपनी अगुलियों से उसके उन गुलाबी स्निग्ध ओठों पर तर्जना फेरता रहा। अपनी तर्जनी के अग्र भाग से उन ओठों की सिमटनों को अनुभव करने लगा। फिर दोनों हथेलियों के बीच उसके सिर को थामे उसके चेहरे पर जाने क्या-क्या पढ़ता-सा रहा।

मैंने उन आँखों को देखा, जिनमें ऐसा विश्वास छलक रहा था जिसे देखकर कोई भी आँख बन्द किये अपना सब कुछ लुटा सकता है। उसके एक-एक अंग को देखकर लगा कि जिस पर बिना तर्क के भरोसा किया जा सकता है।

मैं उस चेहरे को देखे जा रहा था। उन आँखों की पलकों से गुलाब की पत्तियों से टपकते ओस की बूँदों जैसे अश्रुकण बार-बार चू पड़ते थे।

धीरे-धीरे साधना की निश्वासें गहरी होती गईं। तभी मैंने सामने दीवाल पर बढ़ते प्रकाश को देखा। मैंने उस मोमबत्ती की ओर दृष्टि की। उसके चारों ओर दो शलभ मँडरा रहे थे। मैंने अति दयनीय होकर कहा—"साधना, बेचारे जल रहे हैं। जा कर बचा लो।"

सुनकर वह सिसकती बोली—"नितिन बाबू, यही तो बात है कि इस संसार में आकाश में बड़े-बड़े ग्रहों को बिखरते हम देखते हैं और उसे 'उल्कापात' की संज्ञा देकर हम चुप रह जाते हैं। उसका हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और कमरे में छत से गिरती छोटी कंकड़ी पर हम विचार करते हैं, सोचते हैं, कि वह वहाँ से न गिरे। क्यों? जानते हैं आप?"

"आप यह सब क्यों कहे जा रही हैं?"

"बात बहुत सीधी है। आकाश में जो उल्कापात होता है उसका प्रभाव या उसका सम्बन्ध हमारे हित-अहित से कुछ भी नहीं होता, इसीलिये उतनी बड़ी घटना हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती किन्तु छत से गिरी उस छोटी कंकड़ी का सम्बन्ध हमारे हित-अहित से है। इसीलिये उस कंकड़ी के सम्बन्ध में सोचते-विचारते हैं, डरते हैं—कहीं आँख में न गिर जाये!

आपके सामने कितना बड़ा शलभ जला जा रहा है, किन्तु वह आप नहीं देख पाते। आपकी ममता उन दो कीटों, शलभों पर है! सो जानते हो क्यों?"

"मैं तो अभी तक आपकी बात समझ ही नहीं पा रहा हूँ। आप कहना क्या चाहती हैं?"

"आपने अपना जीवन उन शलभों से Identify (तादात्म्य) कर लिया है; इसीलिये आप उन दो पतंगों के लिये इतने व्याकुल हो रहे हैं। सचमुच में वह व्यथा, वह दयाभाव उन

पतंगों के प्रति न होकर है आपका अपने लिये! मात्र अपने लिये !!" कहते-कहते वह हिचकने-सी लगी।

तब अचानक मेरी समझ में आया कि उसका संकेत किस ओर है। इतनी देर हो गई। उसने अपना स्नेह जताने के लिये कितने प्रकार के व्यवहार किये थे। सिर, गाल थपथपाये थे। आँसू गिराये थे। उसकी दीर्घ निश्वासें बढ़ती जा रही थीं किन्तु उसे मैंने क्या दिया था, प्रतिदिन? कुछ भी तो नहीं। तभी उस दीवाल पर प्रकाश झिलमिला गया। उन पतंगों की जो छाया दीवाल पर पड़ रही थी, वह बिखर गई।

नितिन ने मोमबत्ती की ओर देखा। वे दोनों शलभ जलकर उस मेज पर गिर पड़े। शमा बुझ गई। कमरे को अन्धकार ने लील लिया।

मुझे विचार आया साधना की पिछली बात का—उल्का—कंकड़ी। बड़ा, शलभ! और सामने वाला शलभ। तभी उस अँधियारे में साधना की वे उँगलियाँ उसके वक्षस्थल पर कुछ खोजती-सी इधर उधर सरकने लगीं।

साधना बोली—"नितिन बाबू, जीवन के इतने बड़े-बड़े धक्के आप कैसे सह सके थे?"

"सह कहाँ पाया साधना? सह पाता तो दुःख ही किस बात का था? यह जो मैं अकर्मण्य की भाँति अन्धकार में पड़ा आँसू बहा रहा हूँ, सो क्या उसे सहना कहते हैं? सहते हैं वे जो छाती तानकर सामने जाकर गोली खाते हैं, एक तड़प! और प्राण दे देते हैं।

एक बार इसी प्रकार शिकारी की गोली खाकर जंगल में मैंने एक शेर को मरते देखा था। तभी से वह घटना ऐसी छा गई है कि मैं मनुष्य के जीने और सहने की कल्पना उसी प्रकार की

किया करता हूँ। जो सामने आकर चोट करे, चोट सहे, मिट जाये या मिटा दे।"

"यह तो सचमुच ही पशुता है नितिन बाबू! जीवन है उस तितली का जो जीवन भर शान्त रहती है चाहे वह जीवन कितना ही छोटा हो, पर है तो सुन्दर! चारों ओर मनोरमता से घिरा। और जब दुर्भाग्य से उन रंगीन परों को काँटे विदीर्ण कर डालते हैं तब बेचारी चुपचाप पंचभूत में मिल जाती है।"

"सो मैं नहीं मानता साधना! नारी जीवन के लिये तितली का जीवन ठीक हो सकता है किन्तु पुरुष का पौरुष है छाती तानकर गोली खाना या एक झपाटे में सामने वाले का मुँह नोच लेना। इसके बीच में भी कोई जीवन हो सकता है, सो मैं नहीं मानता।"

"है नितिन बाबू! नहीं तो पशु और मानव में अन्तर ही न होता। इसी मार्ग की खोज में बुद्ध, ईसा, गाँधी और जाने कितने युग पुरुषों, अति मानवों ने अपना समूचा जीवन लगा दिया। युग-युगों के कठिन परिश्रम के बाद मानव ने इन दोनों 'अति' के बीच में मध्यम मार्ग को खोज निकाला है।

वही मानव का धर्म और सीधा मार्ग है। उसका आधार मरना मारना न होकर है जीना जीने देना Live and let live हिंसा न होकर सहयोग ही वह बीच का मार्ग है। इस प्रकार का विचार मैंने प्रिन्स क्रॉपाटकिन की एक पुस्तक 'म्यु-चुअल एड' में पढ़ा था जिसका मेरे जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

"किन्तु मैं इस प्रकार कभी नहीं सोच पाता साधना!"

"तभी तो आपका समस्त जीवन एक उलझन ही में बीता है। नितिन बाबू, एक बार संत टी. एल. वास्वानी मेरे यहाँ आये। उन्होंने जाने कितनी ज्ञान-ध्यान की बातें की थीं, किन्तु

उनकी एक बात मैं कभी नहीं भूलती—वे कहते थे कि भगवान् का कहना है 'I live in thy tears.'

सच नितिन बाबू, चाहे कोई कितनी ही बार आपको धोखा दे ले अन्त में जीत आपकी ही होगी। आँसुओं में कितनी शक्ति है सो पहिली बार मैंने आपकी वह कापी पढ़कर ही जाना था।

जो आँसू आपने अपने उस हाउसबोट के एकान्त में बहाये थे, वे अनजाने ही मेरे जीवन में ज्वालायें बन-बनकर मुझे जला उठे थे। तभी तो आज………।"

कहते-कहते चुप हो गई और टपूटप् उन आँखों से आँसू झर उठे। मुझे लगा जैसे मेरे कानों में कोई कह रहा है—"चाहे कोई कितनी ही बार धोखा दे डाले पर अन्त में जीत आप ही की होगी नितिन बाबू!"

ऐसा कहने वाली क्या किसी को धोखा दे सकती है? जिसका विश्वास है कि भगवान् आँसुओं में रहते हैं—जिसे भगवान् का I live in thy tears जैसी बात पर आस्था है, सो किसी को कैसे धोखा दे सकती है?

वह सोचने लगा—तो क्या यही है वह जहाँ जाकर उसके सपने पूरे हो जाते हैं? उसके अभावों की सम्पूर्ति, वह मधुर कल्पना, जिसके साकार होने की प्रतीक्षा जाने कितने जन्मों से करता आरहा हूँ? क्या यही है वह आत्मा जिसे खोजते-खोजते मैं टूट गया हूँ। जिसको पा जाने के लिए युगों से मैं छटपटाता आ रहा हूँ? और मेरे ओंठ जाने किस कवि के हृदय में उठा एक कामना को दुहराने लगे—

"अब मधु ही है प्राण हमारा, हम तुम एक शरीर!"

गुनगुनाते-गुनगुनाते उसने साधना को धीरे-धीरे अपनी ओर झुका लिया। साधना इस प्रकार झुकने लगी जैसे बहुत देर से उस प्रकार के संकेत को वह प्रतीक्षा ही कर रही थी।

उसने अपनी जाँघ पर रखे मेरे सिर को एक ओर करके पैर पसारती, अधलेटी ही, मेरा सिर अपने वक्षस्थल से चिपटा लिया। मुझे लगा जैसे माधुरी के सान्निध्य के वे क्षण जो एक दिन अचानक उस अतिथि ने आकर मुझसे छीन लिये थे। लगा; जैसे धीरे-धीरे वही क्षण मेरे चारों ओर छाते जा रहे हैं।

तभी मैंने अनुभव किया कुछ अति कोमल, स्निग्ध और कुछ गर्माई लिये मेरे कपोलों से छू-छू जाता है। फिर धीरे-धीरे दबाव बढ़ने लगा। बढ़ता गया। बढ़ता गया और मेरा सारा शरीर काँपने लगा, जितना वह मुझे दबाये जा रही थी उतना ही मैं काँपे जा रहा था।

मैंने एक बाँह उठाकर उसे थोड़ा और झुकाया। वह अपने पैर नीचे की ओर सरकाती-सी लेट गई। वह अनुभव जो अभी मेरे कपोलों पर हो रहा था, अब लगा जैसे वही अति कोमल स्निग्ध कुछ गर्माई लिये मेरे स्कन्धों से छू रहा है।

उसकी गर्म उसासें मेरे गालों पर आ-आकर छूने लगीं। मेरा अन्तर्यामी कह रहा था—सँभाल ! यही है वह जिसके लिये कितनी रातें तूने रो-रोकर काटी हैं, जिसके लिये तेरा एक-एक पल युग बनकर आता था। और मन कह रहा था—हे राम ! यह क्या है ? ऐसा क्या हो रहा था—क्यों सब कुछ काँप रहा है। यह क्या होता जा रहा है मुझे ?

और तभी अपने कन्धों के सहारे वह उठी। वह दबाव जो अभी गालों पर फिर स्कन्ध पर पड़ रहा था वह आकर धीरे-धीरे मेरे वक्षस्थल पर अनुभव हो रहा था।

पता नहीं क्यों किसी भी प्रकार 'नितिन' लम्बी-लम्बी निश्वासों को रोक नहीं पा रहा था। उन्हें रोकने पर लगता था जैसे आज उसकी छाती फट जायगी और अन्दर-ही-अन्दर कोई कह रहा था—

"अब मधु ही है प्राण हमारा, हम तुम एक शरीर !"

धीरे-धीरे नितिन के हाथ, अंगुलियाँ उस दबाव की ओर बढ़ने लगीं। अंगुलियों ने छुआ और लगा जैसे बिजली के करेंट की भाँति सारा शरीर धक्का खाकर झनझना गया है। मैं बड़बड़ा उठा—"नहीं साधना !" और मैंने साधना के कन्धे पकड़कर उसे एक ओर कर दिया। मैं चारपाई से उठकर खड़ा हो गया। उठकर दियासलाई से मोमबत्ती जलाकर मेज पर रख दी।

कुछ देर तक मैं साधना की ओर देखने का साहस ही न कर सका। फिर धीरे-धीरे उस ओर देखा। साधना औंधी पड़ी हिचक रही थी। ठीक माधुरी की भाँति, जिस प्रकार विवाह का प्रस्ताव सुनकर वह बाहर चटाई पर लेटकर रोई थी। यह भी रोई थी—ठीक इसी प्रकार विवशता की पीर लेकर; किन्तु कितना अन्तर था दोनों की विवशताओं में।

माधुरी रोई थी ग्रहण करने की विवशता को लेकर और साधना रो रही थी ग्रहण न कर सकने की अवशता को लिये।

मैं बैठा चुपचाप उस सिसकती साधना की ओर देख रहा था। जी चाहा कि उठकर उसे अपनी छाती से लगा लूँ और कह दूँ—"साधना, मैंने तुम्हारा अपमान नहीं किया है। वह जो तुम आज मेरे लिये होम करने जा रही थीं उसे मैंने लौटाया नहीं है, मात्र स्थगित किया है। तुम्हारे जीवन के उस मधु को ग्रहण करने से पहिले यह तो जान लूँ कि तुम कौन हो ? कहाँ से आई हो ?

लता की भाँति यदि तुम्हारे पिताजी ने भी अपनी बेटी की बाँह मेरे हाथ में देने से मना कर दिया, तब साधना ? तब क्या होगा ? तब जिन क्षणों के लिये महाकवि कालिदास का अभिशप्त यक्ष केवल कुछ समय के लिये छटपटाया था, वियोग की आग में

तिलतिल कर जलता रहा था ; सो मुझे तो फिर अपना शेष समस्त जीवन ही तप-तप कर, झुलस-झुलस कर बिताना होगा।

सोचते-सोचते मैंने मेज पर जमे मोम के पास शमाँ पर भस्म होकर बिखर जाने वाले तीनों शलभों को देखा। लगा जैसे यह मैं ही हूँ। इन शलभों के शरीर में मेरी ही आत्मा थी जो मिट-मिट कर जन्मती थी और जन्म ले-लेकर मिटती आ रही थी। कौन जाने कितने जन्मों से इसी प्रकार बनता मिटता आ रहा हूँ।

उन कीटों को देखकर लगा जैसे मेरे एक जीवन में अपने ही हाथों अपना नाश कर लेने की यह संक्षिप्त कहानी है। फिर सोचने लगा—एक बार लता ने मुझे तोड़कर रख दिया था। दूसरी बार माधुरी ने मुझे मिटा डाला, तो क्या यह साधना भी आई है इसीलिये ? इसी प्रकार झुलस-झुलस कर मार डालने के लिये जैसे शमाँ ने इस तीसरे पतंगे को झुलसाकर मार डाला है।

तभी विचार आया—जैसे उस कमरे में दो शमाँ जल रही हैं। एक यह मेज पर, और दूसरी वह बिछौने पर ; और मैं हूँ वह शलभ जो शमाँ के चारों ओर मंडरा रहा है। जो बच रहा है भाग्य से और अन्त में भवितव्यता है—उसका मिट जाना, झुलस जाना, बिखर जाना।

न जाने किस भाव से मैंने उस तीसरे पतंगे को उठाकर हथेली पर रख लिया जैसे वह कीट न होकर है मेरे भवितव्य का लघुरूप ! उसे देखते-देखते मैं काँपने लगा। मन अवसाद से भर उठा।

फिर विचार आया—लता और माधुरी का बदला मैं ले रहा हूँ इस अति सुकुमारी तन्वांगी साधना से 'जिसकी आँखों में विश्वास छलका पड़ रहा है, जिसमें अपना भला बुरा देखने की समझ है। वह लता नहीं है। उसने समग्र मन से मुझे ग्रहण किया

है, वह माधुरी नहीं है। लगा जैसे मेरा रोम-रोम बोल उठा—

'अब मधु ही है प्राण हमारा, हम तुम एक शरीर !'

मैंने उस मोमवत्ती को बुझाने के लिये अपना सिर आगे की ओर झुकाया उसी समय धीरे से साधना ने अपना सिर उठाया। मैं सीधा बैठ गया। वह चुपचाप उठी और बाहर की ओर चली गई।

होटल के बाहर छज्जे पर चुपचाप खड़ी सामने की उन पहाड़ियों को देख रही थी, जिन पर अभी तक कितने ही तारों की छाया थी। जो अब मिट चुकी थी।

तभी मैं उसके पास गया और उसके दोनों कंधों पर हाथ रखकर बोला—

"साधना !"

"जी।"

"अब कैसी हो ?"

"ठीक हूँ।"

"तुम्हें बुरा लगा होगा ?"

"बुरा क्यों लगेगा ?"

"तो भी क्या सोच रही थी तुम ?"

"सोच तो मैं कुछ भी नहीं रही हूँ। सामने देख रही हूँ।"

"क्या ?"

"उस पहाड़ी को जिसके सिर पर टिमटिमाता वह एकाकी तारा धीरे-धीरे छिपता जा रहा है। जैसे मेरी तरह प्रकृति ने थोड़ी देर के लिये सुहाग की बिंदी लगाई हो और जो अचानक ही पोंछ दी गई हो। अचानक……।" कहते-कहते उसका गला रुँध आया।

१४

मुझे लगा जैसे सचमुच ही वह शुक्रतारा मात्र तारा न होकर उस पहाड़ी के माथे पर सुहाग की बिंदी है जो धीरे-धीरे पुछती जा रही है। मिटती जा रही है। और धीरे-धीरे वह तारा डूब गया। लगा जैसे वह पहाड़ी अनाथ सूने वैधव्य का भार उठाये खड़ी है—शान्त ! नीरव !!

तभी मैंने उस पहाड़ी से दृष्टि हटाकर देखा अपने सामने खड़ी उस साधना को जिसके बाल कंधों तक बिखरे थे। उसकी उलझी लटें सुलझाते-सुलझाते मैंने उसे घुमाकर उसका मुँह अपनी ओर कर लिया। लगा जैसे उधर वह पहाड़ी है जिसका सुहाग चिन्ह पुछ गया है और इधर यह है जिससे अचानक वे क्षण छीन लिये गये हैं जिनका छिनना किसी के जीवन की ऐसी घटना होती है, जो भुलाये नहीं भूलती। कभी-कभी तो वे क्षण अपने साथ उस अभागे मानव का समस्त जीवन ही छीन ले जाते हैं। मानव रह जाता है: ऐसा शरीर जिसकी आत्मा जा चुकी होती है—निर्जीव-सा ! निष्प्राण !!

सोचते-सोचते मेरा मन उसके प्रति समवेदना से भर उठा। मैंने अपना हाथ उसके गले में डालकर अपनी ओर खींचना चाहा। तभी वह खिंचती-सी बोली—"नहीं ! अब नहीं नितिन बाबू !"

"क्षमा न कर सकोगी ?"

"इतनी बड़ी नहीं हूँ जो आपको क्षमा कर सकूँ। पर नितिन बाबू ! चाहे तुम किसी को कितना ही बड़ा दण्ड दे लेना किन्तु

ऐसा दण्ड कभी न देना। यह बात तुम पुरुष होकर नहीं समझ पाओगे पर मेरी बात पर अविश्वास कभी न करना।"

"समझने की बात नहीं है साधना! कुछ अनुभूति भी है। तुम्हें बताई तो थी। उस दिन की बात जब वे अतिथि आ गये थे।"

"इसीलिये तो कह रही हूँ कि आप नहीं समझ सकते।"

"क्यों, ऐसा मैंने क्या कहा जिसको लेकर तुम कह रही हो कि मैं नहीं समझ सकता?"

"इसलिये कि तुमने मेरी बात का सम्बन्ध जोड़ा है अपनी और माधुरी की उस घटना से। आप यह नहीं सोच सकते कि आप और माधुरी का जो सम्बन्ध था, वैसा मेरा आपका तो नहीं है।"

"तो इससे क्या हुआ?"

"इससे कुछ हुआ ही नहीं?"

"हाँ, मैं तो यही समझता हूँ।"

"सारी बात का आधार ही यह है। माधुरी और आपके उस वैवाहिक जीवन में ऐसे कई अवसर आये होंगे। चाहे इससे पूर्व कभी उनकी तीव्रता न रही हो, किन्तु आप प्रथम स्पर्श और कई बार स्पर्श किये जाने में कोई भेद ही नहीं कर पाते?"

"सो तो कर पाता हूँ।"

"कर पाते तो नितिनबाबू! मेरी बात को माधुरी वाली उस घटना से जोड़कर मेरे मन की तीव्रता को कम नहीं करते।"

"लेकिन क्या तुम उस दिन की मेरे मन की तीव्रता को समझ सकती हो?"

"हाँ, मैं समझ पाई तब जब आप मेरे पास से अचानक उठ

कर चले गये थे। नितिन बाबू ! आप के उठ कर जाने के बाद आप जानते हैं मैं क्यों रोई थी ?"

"अपने अचानक छिन जाने वाले उन क्षणों के लिये !"

"नितिनबाबू, यही तो आप मेरे बारे में गलती कर जाते हैं। तभी तो मैं कहती हूँ कि आप पुरुष होकर नहीं समझ सकते।"

"अच्छा तो बताइये आप किस लिये रोई थीं ?"

"बात कहकर मैं उसे छोटा नहीं करना चाहती थी; किन्तु आपको आगे के लिये सावधान रहने के लिये ही कह रही हूँ। नितिन बाबू ! मैं रोई थी आप के लिये।"

"मेरे लिये ?"

"हाँ, जब आप उठकर चले गये तब मैं समझ पाई थी कि उस दिन जब माधुरी अचानक आपको वैसी मनोदशा में छोड़कर चली गई होगी, जब आप अपना सब कुछ होम कर देना चाहते थे। तब उसके चले जाने पर आप किस प्रकार टूट गये होंगे, सो सोच-सोचकर ही मैं मरी जा रही थी।"

तब मैंने अति भावुकता भरे कंठ से कहा—"साधना ! तुम कितनी·······।" बीच ही में साधना ने अपनी तर्जनी मेरे ओठों पर रखकर कहा—

"चुप रहिये। पुरुषों के इस चाटुकारी के अस्त्र से मैं कई बार लड़ चुकी हूँ।"

मैंने हँसकर कहा—"और यह भी तो तुम्हीं ने बताया था कि इसी अस्त्र से कई बार पराजित भी हो चुकी हो।"

उदास-सी होकर बोली—"हाँ, यह भी सच ही है।"

कुछ देर तक हम दोनों चुपचाप खड़े उन दो पहाड़ियों

के बीच से उगते सूर्य को देखने लगे जिसकी प्रतीक्षा कितनी देर स उपासुन्दरी हाथ में कुंकुम-थाल सजाये कर रही थी।

उगते सूर्य की वे सुनहली किरणें सीधी साधना के माथे पर आ-आकर छूने लगी। वह चेहरा दीप्ति से भर उठा। तभी मैंने उसे अपने अति निकट खींचकर कहा—

"साधना! जिस प्रकार इन क्षणों में, इन कनक किरणों से तुम्हारा मस्तक दीप्त हो उठा है, मैं चाहता हूँ तुम्हारी यह दीप्ति अमर हो! शाश्वत सनातन हो!!" कहते-कहते मैंने उसके माथे को चूम लिया।

वह मुझे अपलक नयनों से देखती रही। फिर मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोली—"And the same for you Nitin Babu!"

कहते-कहते उसके होंठ पतले होते गये और उसकी वे उजली आँखें जो रात भर जागते से उनींदी-सी हो उठी थीं, उनमें कुछ ऐसा भाव जागा जिसका चित्रण करके कोई भी कलाकार अमर हो जाता।

उसकी आँखों के उस भाव को देखकर मैं ऐसा अभिभूत हो उठा कि हाथ खींचता कमरे में ले आया।

मैंने उसे एक प्रकार से उठाकर बिछौने पर पटक दिया। वह अपनी बाँह गर्दन के नीचे रखकर बोली—

"क्या है मन में?"

"कुछ भी हो।"

"मुझे भी तो बताइये। शायद आपकी मदद कर सकूँ।"

"ऐसे भाग्य मेरे नहीं हैं साधना!"

"भाग्य साकार होकर द्वार पर आये और कोई उसे धकेल दे तो उसमें भाग्य का क्या दोष है नितिन बाबू !"

"साधना ! भाग्य भी सब नहीं सहार पाते। उसे सहारने के लिये शक्ति चाहिये। मुझ में अब वह भी तो शेष नहीं रही।"

फिर करवट बदलकर कंधे पर अपने सारे शरीर का बोझ डालकर एक हाथ से मेरी अँगुलियाँ थामे बोली—

"जो अँगुलियाँ लोहे की शलाकाओं को मोम की भाँति मोड़ सकती हैं सो क्या मुझ जैसी नारी का हाथ पकड़कर रोक नहीं सकतीं ?"

सुनकर मैं उसकी कमर के पास बैठता बोला, "साधना ! मानव से मैं लड़ सकता हूँ किन्तु विधि के विधान से मैं कैसे लड़ूँ ?"

"क्यों विधि तो लड़ने नहीं आती ? आपने माधुरी का पता लगाकर उसे छीन क्यों नहीं लिया ?"

"साधना ! माधुरी के शरीर को छीनकर क्या करता ? शरीर ही चाहता तो जाने कितने शरीरों को अब तक नष्ट कर चुकता। साधना ! मैं खोज रहा हूँ आत्मा ! ऐसी आत्मा जो मेरी हो पाये। मात्र मेरी !"

कहता-कहता मैं उठ खड़ा हुआ और कुर्सी पर जा बैठा। वहाँ सामने ही मेज पर तीन शलभ शमां पर जल चुके थे, जिनके अवशेष बिखरे पड़े थे—जले पंख, गिल-गिले शरीर !! वहीं पास पड़ा था वह मोम, जिसमें कभी जलन थी और जो अब पड़ा था ठंडा शीतल !! घनीभूत !!

रात भर जागते रहे थे सो साधना उठकर अपने बिछौने पर जा लेटी। थोड़ी ही देर में गहरी नींद में सो गई। उसे सोते देख

मैं भी अपने बिछौने पर जा लेटा। जब उठा तो देखा—साधना वहाँ नहीं है।

मैं उठा इधर-उधर देखा किन्तु कहीं भी दिखाई न दी। सोचा कहीं इधर-उधर घूमने निकल गई होगी। मैं चुपचाप खिड़की से उन्हीं पहाड़ियों की ओर देखने लगा; जो रात भर तारों की छाँह में अभिसारिका सी किसी की प्रतीक्षा में खड़ी रही थीं। फिर वह शुक्रतारा—सुहाग-चिन्ह मिट गया और अब दिन के उजाले में सूनी सूनी-सी संयम की दुर्निवार पीड़ा लिये खड़ी हैं।

जाने क्या-क्या उस ओर मुँह किये सोचता खड़ा था तभी द्वार पर किसी के आने की छाया-सी पड़ी। मैंने मुड़कर देखा—वही महाश्वेता, भुवनमोहिनी खड़ी थी। अब उसने सब कुछ श्वेत ही पहिन रक्खा था। उस श्वेत स्वच्छ धवल साड़ी पर उसकी दो चोटियाँ लहरा रही थीं। उन दो चोटियों से वह अति अस्तव्यस्त-सी दिख रही थी। कैसा उन्मादकारी चापल्य था उसके उस देखने में। दोनों हाथ चौखटों पर रक्खे झुकी-सी जिस प्रकार वह देख रही थी सो उसे देखकर मैं समझता हूँ विश्व का महान् संयमी, अतिमानव भी एक बार सिहर उठता, काँप उठता।

उसकी उस भाव-भंगिमा को देखकर मैंने कहा—

"वैसे ही भगवान् का दिया बहुत कुछ है। साधना! ऊपर का यह सब तो इस संसार को मिटाकर ही छोड़ेगा। इतना अत्याचार तुम कैसे कर पाती हो इस मानव समाज पर?"

"उसके लिये ही तो उस जगन्नियन्ता ने मुझे सिरजा है। हाँ अपने बारे में यह कहना तो मैं भूल ही गई" कहते-कहते वह मेरी कमर के पास आकर बैठ गई और मेरी ओर देखती-देखती बोली।

वह कहे जा रही थी—"नितिन बाबू! यह पुरुष भी कैसा

जन्तु है। कितनी बड़ी शक्ति देकर सिरजा है भगवान् ने उसे, किन्तु साथ-ही कितना शक्तिहीन भी है वह।

पशु को अच्छी-बुरी बात चोट नहीं पहुँचा पाती। किसी का किसी भी प्रकार देखना सुनना उसे कष्ट नहीं देता ; किन्तु शक्ति-पुंज यह मानव, एक दृष्टि में ही मर्माहत हो कराह उठता है।"

"तुम जानती हो इस बात को ?"

"नितिन बाबू ! भगवान् ने हम लोगों को शरीर, मन, सब कुछ ऐसा देकर भेजा है कि पुरुष ने अभिमान के साथ हमें पुकारा—'अवला' किन्तु उस जगन्नियन्ता का एक वरदान याद करके कभी-कभी मैं उसके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हो स्तब्ध-सी हो उठती हूँ" कहते-कहते साधना ने अपने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक से लगा लिये।

"कौन-सी है वह ऐसी बात ? बता सकोगी ?"

"बताऊँगी क्यों नहीं, चाहे उसे शक्ति, वरदान, अस्त्र-शस्त्र कुछ भी कह लीजिये किन्तु नारी जब वह अस्त्र उठाती है तब विश्वामित्र से तपसी, दुष्यन्त से महाराजा, विश्वविजयी सिकन्दर-सा पराक्रमी, सब उसके पैरों पर लोटने लगते हैं।

"मैं समझा नहीं किस ओर है तुम्हारा संकेत ?"

"जिसे अभी-अभी तुम अत्याचार कह रहे थे ; सो उसी को मैं नारी की सबसे बड़ी शक्ति मानती हूँ !"

"पहेलियों में बिना उलझाये सीधी बात क्या तुम लोग कह ही नहीं सकती ?"

"पहेलियों में उलझना-सुलझना तो हम लोगों का स्वभाव है। सीधापन हमें अच्छा ही नहीं लगता, नितिन बाबू !"

"सुनकर मैं उसके मुँह की ओर देखने लगा। हर बात को इतना

उलझाये जा रही थी कि मेरे पल्ले कुछ भी न पड़ रहा था। तभी मैंने कहा—"देवी ! हाथ जोड़ता हूँ। बताइये न अपने उस अमोघ शस्त्र के बारे में ? उस शंकर के पिनाक और इन्द्र के वज्र सरीखा वह क्या होता है आपके पास ?"

"एक उन्माद भरी दृष्टि !" कहकर वह उसी मार्मिक-दृष्टि से मुझे देखने लगी।

"ओह ! सच साधना !"

"पर नितिन बाबू ! कितनी हैं इस धरती पर जो इस अमोघ अस्त्र को चलाना जानती हैं ? मैं चाहती हूँ संसार की नारियाँ और चाहे कुछ जाने या न जाने पर इस अस्त्र को चलाने की विधि तो उन्हें भली भाँति ही समझ लेनी चाहिये।"

"आप इसके लिये ट्रेनिंग कालेज क्यों नहीं खोल देतीं ?" कहकर मैं हँस पड़ा और वह सुनकर गम्भीर हो गई। अति संयतस्वर में बोली, "अभी मैं नीचे होटल में गई थी। वहाँ एक पंजाबी जोड़ा बैठा था। पता नहीं किस बात पर आपस में कहा-सुनी हो गई। वह जंगली पुरुष क्रोध में उन्मत्त वृषभ जैसा फुफ-कारने लगा। तब नितिन बाबू, उस नारी ने गर्दन को थोड़ा तिरछा करके ओठों पर मन्द मुस्कान बिखरते जिन आँखों से उसे देखा, सो मैं नारी होकर भी देखते ही रह गई। तुम सुनकर विश्वास नहीं करोगे। वह फुफकारता पुरुष पालतू कुत्ते की भाँति पूँछ हिलाता-सा वहीं बैठ गया। पर मैं क्या करूँ मुझे भी तो वह नहीं आता।"

"तुमको ?"

"जी !"

"अपने बारे में इतना बड़ा अज्ञान कैसे है तुम्हें ?"

"जानती तो पिछली रात मुझे छोड़कर उठ कैसे जाते ?"

"तब अन्धकार जो था।" कहते-कहते नितिन जोर से हँस पड़ा। तब हँसते-हँसते ही बोला—"हाँ आज प्रकाश रखने की बात न भूल जाना।"

सुनकर न जाने क्यों उसका समस्त चेहरा काला पड़ गया। मेरे हाथ को खींचकर अपनी गोद में रख लिया और मेरी अंगुलियों को इतनी जोर से तोड़ने मरोड़ने लगी कि कभी-कभी मन चीखने-चीखने को हो जाता था।

"क्या हुआ साधना ?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो।"

"मुझे विपिन की याद आ गई थी। उसमें भी ठीक आप ही जैसी Sense of humour थी। नितिन बाबू, कभी-कभी मुझे लगता है मानो आप ही विपिन हैं। गीत, कविता, कहानी लिखना, उसी जैसी बातें करने का ढंग, वैसा ही मुक्तहास और दुखी होने पर वैसी ही अति करुण रेखायें आपके चेहरे पर भी खिंच उठती हैं।"

"तब तो आपको मुझ से घृणा करनी चाहिये।"

"घृणा ? आप ही से क्या ! घृणा तो मुझे पुरुष जाति से ही है !"

"साधना !"

"क्यों ?"

"ऐसे मत कहा करो।"

"बुरा लगता है ?"

"बुरा लगने की बात ही है।"

"तो वही तो मैं चाहती हूँ।"

"क्यों चाह रही हो ऐसा ?"

इसलिये कि जाने कहाँ मैंने पढ़ा था—पुरुष के सामने जितना ही झुकते जाओ, जितना-ही उसे सुखी करने के लिये मरो पिसो उतना ही वह प्रतिदान में देता है—उपेक्षा, उदासीनता और जितना ही खिंचे रहो, उसे दुःख दो; उतना ही वह अपनी ओर खिंच उठता है।"

"साधना !"

"जी।"

"सच, यही होता है; किंतु क्यों होता है ?"

"पुरुष चाहता है विजय और जहाँ उसे वह मिली वह आगे बढ़ जाता है और छोड़ जाता है अपने पीछे वही उपेक्षा-चिर उदासीनता।"

"साधना !"

"जी।"

"यह तुमने कैसे जाना ? नारी होकर पुरुष की इस बात को तुम कैसे समझ पाई ?"

"नितिन बाबू ! कभी-कभी तुम सचमुच ही कवि हो उठते हो।"

"क्या मतलब ?"

"यही कि कवि कभी-कभी अपने चारों ओर होने वाली बड़ी-बड़ी बातें नहीं देख पाता। वह देख पाता है, अन्तरिक्ष में बैठे किसी का संकेत। सुनता है, तारों का संगीत ! किन्तु उसके घर में शाम के लिये रोटी-दाल है या नहीं; यह वह उसी घर में रहकर भी नहीं देख पाता।"

"सो ऐसा मैं क्या नहीं देख पाया ?"

"विपिन के बारे में मैंने आपको सब कुछ बता दिया है पर आप इतना भी न समझ पाये कि मुझ पर विजय पाकर वह अचानक क्यों चला गया ? उसी ने तो मुझे सिखाया है, बताया है, पुरुष की उपेक्षा का यह रहस्य !"

"So what ?"

"आज सुबह से मैं यही सोच रही हूँ कि आप सब प्रकार से विपिन हैं। यदि आप ने भी वही दिया तो।"

मैंने उसका हाथ खींचकर अपने माथे पर रख लिया और बोला—"मैं दूँगा तुम्हें—उपेक्षा ? उदासीनता ?"

"छी साधना ! तुम मुझे इतना छोटा समझती हो ?"

"छोटा तो मैं विपिन को भी नहीं समझती थी ; किन्तु उसके बाद उस पर्वत से ऊँचे महान् मानव को मैंने सिक्ताकण-सा उड़ते पाया था। सो वही सोच-सोचकर मन आशंका से भर उठता है।"

सुनकर मैं उसे अपनी ओर खींचने लगा—और वह कहे जा रही थी—"नहीं नितिन बाबू ! अब नहीं !!" वह उठकर सीधी बैठ गई।

उसकी वह अन्यमनस्कता और अवहेलना देखकर मेरी मुट्ठियाँ बंध उठी, कंठ सूखने लगा। मन जाने कैसा हो उठा। मैंने अपने दोनां हाथ समेटकर अपनी छाती पर रख लिये।

तभी वह बोली—

"बुरा मान गये ?"

"खुशी की बात पर अप्रसन्न होना मैंने नहीं सीखा है।"

"इतना बुरा न मानो नितिन बाबू ! आप जानते हैं उससे पूर्व हम लड़कियों को कितनी बातें सोचनी विचारनी पड़ती हैं !"

"सो तो मैं जानता हूँ पर पता नहीं आज मुझे क्या होता जा रहा है।"

"नितिन बाबू, ऐसे अवसरों पर मात्र एक घड़ा ठंडा पानी सिर पर डाल लेना अति लाभदायक रहता है। करूँ कुछ प्रबन्ध?" कहती-कहती खिलखिला पड़ी।

फिर मेरे दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर बोली—

"Don't be so despressed my dear sir" कहती-कहती वह उठ खड़ी हुई।

मैंने रुँधे कंठ से कहा—

"क्यों कहाँ जा रही हो?"

"उस ज्वार से बच निकलने के लिये जो आपमें उठा आरहा है। लगता है थोड़ी देर और बैठी तो सराबोर हो जाऊँगी।" कहते-कहते वह नीचे चली गई।

जब लौटी तो उसके पीछे होटल का खानसामा हाथ में ट्रे लिये चला आ रहा था। उसने ट्रे कवर उतार कर अपने कंधे पर रख लिया और जो कुछ मैंने देखा—

उसे देखकर मैं आश्चर्य में डूब गया कि चाय के वे प्याले भी ठीक वैसे ही थे जैसे मैं बहुत पसन्द करता था—हल्का आसमानी रंग जो काली बदली में जाकर घुल-सा जाता है।

देखते-देखते मेरी आँखें भर आईं। सोचने लगा—बिना अन्दर स्नेह का सागर उमड़ते कोई किसी के लिये ऐसा कर पाता होगा? रख सकता है कोई किसी का इतना ध्यान?

तो यह कौन है?

वही? बीते युग की जानी पहिचानी-सी, जिसको पा जाने के लिये मेरा मन जन्म-जन्मों से छटपटाता-सा आ रहा है?"

खानसामा नीचे उतर चुका था। वह धीरे-से मेरे पास आई। बालों को सहलाती-सी बोली—"अब उठो न! नाश्ता करके सो लेना।"

पता नहीं जाने क्या-क्या कहे जा रही थी? और मैं उसके चेहरे को देखते-देखते सोच रहा था—तो क्या मैंने वह पा लिया है जिसके एक पल के सान्निध्य का सुख अनेकों बार जन्म धारण करके भी मानव नहीं पाता?"

और वही आज मेरे लिये कितनी सुलभ! कितनी निकट!! कितनी अपनी-सी हो गई है!!

वह मेरे सिर के पीछे झुकी-सी खड़ी थी। मैंने थोड़ा सिर घुमा कर देखा—

उसके वे गुलाबी ओंठ आरक्त हो उठे थे। सद्यस्नात नारी के ओठों की उस पुष्पदल जैसी सिमटन देखकर मेरे ओंठ उन्मत्त लालसा से फड़क उठे।

ऐसा उन्माद जागा कि मैंने दोनों हाथ उठाकर उसके गले में डाल दिये और अपनी ओर झुकाने लगा। तभी पीछे की ओर हटती, गले को बाहों से छुटाती-सी कहने लगी—"नहीं! नितिन बाबू! सो नहीं होगा अब!"

और फिर मैं किसी भी प्रकार चाय नहीं पी सका। थोड़ी देर बाद वह खानसामा आया और उसने देखा—

चाय का गर्म पानी ठंडा हो चुका था। दूध का उठता धुँआ मिट चुका था; किन्तु वह किसी भी प्रकार यह न जान पाया कि पास ही बिछौने पर पड़े उस मानव के अन्दर कैसी ज्वालायें धधक उठी थीं।

दूध का उठता धुँआ दिख सकता है किन्तु धुएँ के वे गुब्बारे जो उसकी दीर्घ निश्वासों के सहारे निकल-निकल कर उस कमरे में छाते जा रहे थे, सो उस अन्तर्यामी के बिना कौन जान सकता था ? ठंडी चाय वहाँ से उठा दी गई किन्तु उपेक्षा अवहेलना की भट्टी में जलता वह मानव, अब भी वहीं पड़ा था। तप्त, आहत झुलसता-सा !

१५

नितिन मुट्ठी बाँध-बाँधकर इस प्रकार खोल रहा था जैसे धुयें में घुटता मानव हवा के लिये छटपटा रहा हो।

दूसरी ओर धरती पर बिछे बिछौने पर साधना चुपचाप लेटी थी। कभी-कभी नितिन की ओर कनखियों से देख भर लेती थी।

कुछ देर तक उस कमरे में यही होता रहा। तभी नितिन ने करवट बदली। वह निर्निमेष-सा खिड़की से आकाश की ओर देखने लगा। उसने देखा वे सूनी-सूनी पहाड़ियाँ जो ऊपर छाजाने वाले काले श्वेत बादलों को पाकर सिहर उठी थीं।

वह सोचने लगा—अपने में स्नेहरस भरे ये बादल ! पहाड़ियों को अपने रस में डुबो डालने की कामना लिये उमड़ते-घुमड़ते चले आरहे हैं; किन्तु वैसा भाग्य मुझ अभागे मानव का कहाँ है ?

उसके हृदय में भरा है इतना स्नेह-रस ! इतना कि ये आकाश में उमड़ते-घुमड़ते बादल सब मिलकर भी तुलना में उससे हल्के ही बैठेंगे; किन्तु इस इतनी बड़ी धरती पर कौन है ऐसा जिसे वह भी रस प्लावित कर दें। अपने मधु रस में भिगो दे ! डुबो दे !!

उसने देखा वे बादल धीरे-धीरे सरकते उन पहाड़ियों को दबाते आ रहे हैं और वह अभागा एकाकी अपने बिछौने पर छटपटा रहा था। तभी उसे लगा जैसे कहीं कुछ उसे छू गया है। उसने बिना देखे ही अनुभव किया कि साधना की अँगुलियाँ उसके बालों को उलझा-सुलझा रही हैं। उसने साधना का कंठस्वर

सुना जो आर्द्र और भरा हुआ था। साधना बोली—"ऐसे अकेले-अकेले क्या सोच रहे हो?"

"जिसके भाग्य में अकेले सोचना ही बदा है सो दूसरा कहाँ से लायेगा ?"

"मैं जो हूँ।"

"तुम ?"

"क्यों मैं क्या सदेह, सप्राण नहीं हूँ ?"

"हो तो किन्तु..........।" कहकर मैं चुप हो गया।

"किन्तु, क्या नितिन बाबू ?"

"किन्तु, कुछ नहीं साधना !"

"फिर भी।"

"कहा न कुछ नहीं।"

"नाराज होगये हो ?"

"...................।"

"रूठ गये हो ?"

"रूठा जाता है उस पर जिन पर कुछ अधिकार होता है। कौन है यहां ऐसा जिस पर मैं रूठूँगा ?"

"आप मुझसे रूठिये नितिन बाबू ! मैं आपको मनाऊँगी" कहती-कहती वह मेरी पीठ के पीछे आकर बैठ गई। फिर मेरा सिर घुमा कर मुँह अपनी ओर कर लिया।

वह मेरे गालों को दुलार से थपथपाती बोली—"इतना बुरा क्यों मान गये ?"

"ऐसा भाग्य मेरा कहां है जो मैं आपकी बात का बुरा मान पाता।"

इस वार मेरे मुँह से तुम के स्थान पर 'आप' निकल गया था।

साधना ने अपना सिर उसके कंधों पर रखकर कान में कहा—

"मान जाओ मेरे महाराजा।"

साधना के मुँह से निकला वह एक शब्द 'महाराजा' जिस ढंग से कहा गया था उससे ऐसा लगा कि उसके मन की समस्त विरसता धुल पुछ गई। उसने अपना हाथ उठाकर साधना के गले में डाल दिया।

साधना ने किसी भी प्रकार का, किसी भी रूप में निषेध न किया। तभी उसने रुँधे कंठ से खिड़की की ओर संकेत करके कहा—

"साधना! देख रही हो आकाश में कैसे वादल उमड़ते-घुमड़ते आ रहे हैं?

"हां, देख रही हूँ।"

"इन्हें देखकर तुम्हें कैसा लगता है?"

"मुझे क्या लगेगा? मैं क्या जानूँ इन बादलों, पहाड़ियों, पर्वतों, प्रपातों की भाषा?"

"भाषा की वात मैं नहीं कहता। मैं कहता हूं प्रकृति के इस उन्माद, बादलों की उमड़न-घुमड़न को देखकर तुम्हारे अन्दर कुछ भी नहीं उमड़ता?"

"ऊँ हूँ! मेरे अन्दर क्या उमड़ेगा?"

सुनकर नितिन बाबू के मन में उठता ज्वार-भाटा का रूप लेने लगा। उनकी वह बांह जो साधना के गले में वड़ी उमंग में भर कर डाली गई थी। धीरे से नीचे की ओर खिसक आई।

तभी साधना ने कहा—" नितिन बाबू ! उधर देखिये—वह श्वेत बादल कैसे धीरे-धीरे उस छोटी पहाड़ी पर छाता जा रहा है और वह पहाड़ी बादल के मधु रस में डूबती जा रही है।" कहते-कहते साधना नीचे की ओर झुकने लगी। झुकती गई ! झुकती गई !! और वही कोमल स्निग्ध उसके कंधों को हौले-हौले छू छूकर उसे कँपाने लगा।

वह रुँधे कंठ से बोला—"साधना ! क्या तुम सचमुच मुझे मार कर ही छोड़ोगी ?"

वह एक दीर्घ निश्वास भरकर बोली—"मारना तो चाहती हूँ पर मार नहीं पाती नितिन बाबू !"

"तो प्राण एक साथ क्यों नहीं खींच लेती ? इस प्रकार तिल तिलकर क्यों मार रही हो ?"

फिर झुकती-सी, नितिन के उन कंधों को और अधिक दबाती बोली—"नितिन बाबू ! बकरे को हलाल करने की देश में कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं !"

"साधना ! कैसी हो तुम, ऐसे समय भी, ऐसा परिहास कैसे कर पाती हो ?"

"क्यों कैसा है यह समय ? नितिन बाबू ! यही तो है वह समय, वे क्षण जिनमें किसी के लिये किसी ने कभी प्रेम गीत लिखे थे। सो आज वही तो किसी के कंधों को दबाये आ रही है। ऐसे समय भी परिहास न करूंगी, सो क्या तब करूंगी जब वह मिट चुकेगी ?"

सुनकर नितिन मन ही मन सोचने लगा—"हाँ, इन्हीं क्षणों को लौटा लाने के लिये तो वह कल रात से छटपटा रहा है और जब वे क्षण उसे मिल रहे हैं, तब वह अपनी उस प्रेयसी का

परिहास भी नहीं सहार पाता !" सोचते-सोचते उसने साधना के चेहरे की ओर देखा।

उसने देखा उन आँखों को, उसे जो उन आंखों में छाता आ रहा था। देखा और देखता ही रह गया।

तब धीरे-धीरे सिहरते-से उसने कहा—"क्या कर रही हो साधना ? क्यों उठा रही हो यह अपना अमोघ अस्त्र ? मैं तो वैसे ही मर चुका हूँ।"

तब साधना ने कहा—"नितिन बाबू ! वास्तविकता और व्यंग में आप अन्तर क्यों नहीं कर पाते ? जिसे मैं नारी का अमोघ अस्त्र कह रही थी वह अस्त्र नहीं, वही है नारी द्वारा पुरुष को दिया गया मधु ! पावन; अमिय रस ! जिसके पाने के लिये मानव मृत्यु की दारुण यंत्रणा भी हँसते-हँसते सह लेता है।

तभी तो देश-विदेश के जाने कितने प्रेयसों ने अपनी प्रेयसियों के इस मधुरस को पा लेने के लिये अपना सब कुछ होम कर दिया। और नितिन बाबू, वही सब कुछ तुम्हारे चारों ओर छलक-छलक पड़ता है, पर तुम छू नहीं पाते।"

सुन कर नितिन को लगा जैसे किसी की मात्र एक बात में, एक शब्द में, वह संकेत भरा है जो कई तरह से साधना उसे देती आ रही है। सो क्या यही है वह जिसको पा लेने के लिये वर्षों से छटपटाता आ रहा है।

तभी साधना ने अपने पैर नीचे की ओर पसारे। और वह स्निग्ध, कोमल गरमाई-सा लिये उसके वक्षःस्थल पर छाने लगा। नितिन की श्वास धीरे-धीरे गहरी हो उठी और साधना लता-सी कांपने लगी। उसके वे गहरे निश्वास नितिन को छू-छूकर उसके प्राण कँपाने लगे। नितिन चाहता था कि वह अपने श्वास-

प्रश्वासों को रोक ले। वह नहीं चाहता था कि साधना उसके इस असंयम की कहानी देख सुन सके।

किन्तु कौन रोक पाया है इन निश्वासों को? ऐसी गहरी निश्वासों को जो ऐसे समय उठा करती हैं। जब भी उसने रोकना चाहा तभी उसे लगा जैसे उसके प्राण घुट जायेंगे। जिधर भी उसने बचने का सहारा खोजना चाहा उधर ही उसे लगा जैसे सब कुछ साधना के उस मधुरस में डुबा डालने के लिये उसे धकेले जा रहा है।

उसने देखी वे दो काली लटें। जो उसके कंधों पर लहरा रही थीं। उसे लगा जैसे उसके अन्दर भी कुछ लहरा उठा है। उसने देखा उस श्वेत शंख-सी ग्रीवा को। जिसमें 'हुच-हुच' की हल्की ध्वनि-सी उठने लगती थी। उसने देखी उसकी छोटी-सी ठोड़ी और वे लाज से आरक्त गाल, जिन पर हल्के-हल्के गढ्ढे पड़ने लगते थे।

तब उसने देखा उन गुलाबी होठों को जो रह-रह कर थिरक से उठते थे। वह ज्ञान शून्य हतचेतसा अर्ध-उन्मीलित नेत्रों से उन होठों को कुछ देर तक देखता रहा। वह न समझ पाया कि कब उसके हाथों की जकड़ बढ़ती गई और कब साधना के वे थिरकते हांठ उसके कांपते होठों पर आ लगे।

वह झुकती आ रही थी। वे आँखों के शतदल सिमिट कर बन्द हो गये थे। उसके वे पलक जो ऊपर की ओर मुड़ से गये थे, उसके गालों को छू-छूकर उसके रोम-रोम में कंपन! सिहरन-सी भरने लगे।

साधना धनुष-सी तनती झुकी आ रही थी। और मुझे लगा जैसे मैं तप तप कर गल रहा हूँ। अन्दर ही अन्दर कुछ घुला

आ रहा है। जैसे मेरे कानों पर कंपित अस्फुट स्वरों में कोई गुन-गुना उठा है—

"मधु ही है अब प्राण हमारा।
हम तुम दोनों एक शरीर!"

नितिन ने देखा—उस बादल ने पहाड़ी को ढक लिया है। तभी साधना ने सिसकते स्वर में न जाने क्या कहा सो मैं कुछ भी न सुन सका, किन्तु इतना आज भी याद है कि साधना के उन सीत्कार भरे शब्दों ने मुझे विवश कर दिया और मैं साधना के मधु पारावार में ऐसा डूबा कि जब चेत आया तब मैंने उस खिड़की की ओर देखा—बादलों में डूबी उस पहाड़ी के पीछे हारा-थका सूरज धीरे-धीरे छिपता जा रहा है। डूबता जा रहा है।

उसके चारों ओर बिखरी वह लालिमा! पहाड़ी पर तैरते उस घन खण्ड में घुल गई।

मैंने उसे देखते-देखते अपना सिर उसके वक्षस्थल में छिपा लिया। वह अपनी दोनों बाहों से मुझे इस तरह छिपाती जा रही थी, जैसे चिड़िया अपने डैनों में अपने चिहुँकते चेंचले को छिपा कर दुलराती है। और मैं पड़ा था उन डैनों में सिमटा-सा! दुबका-सा!

१६

दूसरे दिन जब आँख खुली तो दृष्टि गई साधना के चेहरे की ओर। उसने अपनी बांह मेरे गले से निकाल ली थी। देखकर मैं आश्चर्य में डूब गया। लगा जैसे यह वह चेहरा नहीं है जिसे आज तक मैं देखता आया हूँ।

उसके चेहरे पर ऐसी गहरी उद्विग्नता की रेखायें खिंच उठी थीं जिनसे सहज ही में समझा जा सकता था कि उसके अन्दर ही अन्दर कुछ मथ-सा रहा है—मैंने उस अपनी ओर खींचकर कहा—

"साधना, क्या सोच रही हो?"

"अब सोचने को रह ही क्या गया है? जब सब कुछ ही होम कर चुकी हूँ तब क्या लेकर कुछ सोचूंगी?"

"सोचने का भी कोई अन्त है?"

"सच मानिये, मैं कुछ भी नहीं सोच रही हूँ।"

"अच्छा तो चलो उस पहाड़ी पर चलकर घूम आयें, जिसे बादलों की गोद में डूबते देखकर तुम भी डूब.........।"

"बड़े वैसे हैं आप। यह भी कोई कहने की बात है।"

"अच्छा नहीं कहूँगा, चलो थोड़ा घूम आयें।"

"नहीं, मैं बहुत थक गई हूँ। आप चले जाइये।"

"किसी भी तरह न चल सकोगी?"

"हाँ, कैसे भी नहीं।"

"अच्छा तो मैं घूम आता हूँ।"

"कब तक लौटोगे ?"

"दो-तीन घंटे में लौट आऊँगा। यदि घूमने का स्थान अच्छा हुआ तो लम्बा निकल जाऊँगा।"

"अच्छा !"

नितिन ने कपड़े बदले। नित्य कर्मों से निबट कर बोला—"मैं चाय नीचे होटल में पीता जाऊँगा। तुम यहीं मँगा लेना। मैं ही कहता जाऊँगा।" कहते-कहते वह जाने लगा।

तभी साधना का वह अलसाया कंठ जो कुछ भारी-सा हो उठा था, सुन पड़ा। उसने कहा—"सुनिये !"

नितिन साधना के अति निकट पहुँच गया। साधना ने अपनी वे दो श्वेत बाहें उठा कर नितिन के गले में डाल दीं और उसकी ओर झुकती आई। नितिन ने उसका माथा चूम लिया। वह सजल नेत्र हो उसकी ओर अति करुण-दृष्टि से देखने लगी।

मैंने उसकी वे सजल आँखें देखीं। उन आँखों में मैंने ठीक वही भाव देखा जो एक दिन जाने कहाँ किसी की आँखों में देखा था। देखते-देखते मेरा मन विरस-सा हो उठा !

"क्या हुआ ?" उसने घबराते हुए पूछा।

"कुछ नहीं।"

"तो ऐसे क्यों हो रहे हो ?"

"यूँ ही।"

"सो नहीं होगा। मुझ से छिपाओगे ?"

"ऐसी छिपाने की तो कोई बात नहीं है।"

"फिर भी क्या सोच रहे थे ?"

सच साधना ! मैं स्वयं ही नहीं जान पाता कि अचानक मुझे क्या हो गया है ?"

सुनकर साधना घबरा-सी गई। कठिनाई से नितिन की ओर देखकर बोली—

"नितिन बाबू, तुम तो सचमुच ही मनोविज्ञान का केस हो गये हो।"

"मुझे गलत न समझो साधना ! वैसी कोई बात नहीं है। मैं अभी ठीक हो जाऊँगा। अच्छा चलता हूँ।" कहते-कहते नितिन चला गया।

पता नहीं क्यों सीढ़ियों से उतरते-उतरते वह मुँह से सीटी बजाने लगा। उस ट्यून में वह उसी गीत की ट्यून बजा रहा था; जिसे उसने साधना के मुँह से हाउसबोट में बैठे पहिली बार सुना था—

"हेरी मैं तो प्रेम दिवानी,
मेरा दर्द न जाने कोय।"

नितिन ने होटल में आकर चाय पी किन्तु पता नहीं क्यों जो नितिन वर्षों से अकेला ही चाय पीता आया है, सो उसी नितिन को आज अकेले चाय पीते अच्छा नहीं लग रहा था।

जैसे-तैसे चाय पीकर वह उस पहाड़ी नाले पर बने लकड़ी के पुल को पार करके पहाड़ियों की ओर निकल गया। वह आया था काश्मीर के उस प्राकृतिक सौन्दर्य को निरखने परखने। सदा सदा के लिये आँखों में उसकी झाँकी को बिठा लेने के लिये किन्तु वह कुछ भी न देख पा रहा था। कुछ भी न सोच पा रहा था।

पहाड़ियों पर खड़े उन पेड़ों की शिखाओं पर वह देख रहा था बादल की धुंधली सफेद चादर जिसमें मुँह छिपाये साधना

सो रही थी किसी की बाँह पर सिर रखे। पहाड़ी पर बिखरी प्रत्येक श्वेत बर्फ की शिला पर उसे साधना ही बैठी दिख रही थी।

उस चटाई पर चढ़ते-चढ़ते थककर एक शिला पर बैठ गया। सोचने लगा—पता नहीं कब कहाँ योगियों और भक्तों के बारे में पढ़ा था और तभी स्वामी रामतीर्थ की पंक्ति याद आई—

"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है !"

और याद आई किसी शास्त्र की बात—"ओ विराट ! मैं जिधर भी देखता हूँ उधर प्रकृति के अणु-अणु, कण-कण में मैं तुझे ही देख पाता हूँ।"

सोचने लगा आज उन योगियों, भक्तों और दार्शनिकों की भाँति मुझे भी क्या वही मन की ऊँची स्थिति प्राप्त हो उठी है। क्या इसीलिये मुझे चारों ओर साधना ही साधना दिख रही है।

इसी प्रकार जाने क्या-क्या सोचता-विचारता बहुत दूर निकल गया। कलाई उठा कर जो घड़ी की ओर देखा तो दस बज चुके थे। घर से निकले तीन घण्टे बीत चुके थे। यह परिज्ञान होते ही घबरा-सा गया—

सोचने लगा—तो उतर कर होटल तक पहुँचने में तीन घण्टे और लगेंगे। कैसा स्वार्थी हूँ मैं ? जिसने मुझ पर विश्वास करके अपने जीवन का वह—जो नारी-जीवन के लिये सबसे अधिक मूल्यवान है, पवित्र ! पुनीत ! पावन है !! सो वही बिना किसी संकोच के मुझे दे दिया है, होम कर दिया है, उड़ेल दिया और मैं ? मैं ?

मैं उसे भूलकर, अकेला छोड़कर दूसरे दिन ही यहाँ निकल आया हूँ। जब कि वहाँ उसके साथ रहकर उस क्लान्त, श्लथ नारी को मुझे थपथपाना, दुलराना चाहिये था। जाने क्या-क्या सोच रही होगी ?

सुबह उठते समय भी उसका चेहरा कैसा हो उठा था। जाने क्या, कैसा उसके अन्दर ही अन्दर कुछ हो रहा था? चलते समय कैसे सजल नेत्रों से उसने मुझे देखा था? कैसे बाहों में भर कर मुझे अपनी ओर खींच लिया था।

और मैं हूँ कैसा मूर्ख? जब मुझे आनन्दातिरेक से सिहर उठना था तब जाने क्या सोच कर अवसाद से मेरा मन भर उठा था—सोचते-सोचते द्रुत गति से घर की ओर चला आ रहा था।

जैसे-जैसे विचार की गति बढ़ती जा रही थी ठीक वैसे ही उसके पग भी जल्दी-जल्दी उठने लगते थे।

वह सोचने लगा—

कौन किसके लिए इतना ध्यान रखता है? मेरी रुचि अरुचियों के सम्बन्ध में उस कश्मीरी लड़की से कितना परिज्ञान प्राप्त करके आई थी? मेरी रुचि के अनुकूल द्वार के पर्दे, चाय के वे हल्के आसमानी प्याले!

उसके उस अलौकिक रूप और अप्रतिभ कंठ-स्वर को पाकर कोई भी अपने को कृत-कृत्य मान बैठता। उसके संकेत मात्र पर गगनचुम्बी महलों के द्वार खुल जाते। फिर क्या है ऐसी बात जिसने उसे मेरे लिये ऐसी सुलभ, मात्र अपनी ही-सा बना दिया।

मैंने क्या दिया उसे प्रतिदान? तब उसे याद आया कि कल उन लोगों ने चाय और भोजन भी न लिया था। याद आते ही उसके प्राण खिंचने लगे। उसकी आँखें छल छला आई।

सोचने लगा—कहीं मानव होता स्पात जैसा दृढ़! जो यहाँ से गिरकर एक मिनिट में बिना चोट खाये पहाड़ियों के नीचे खड़े उस होटल तक पहुँच जाता—एक क्षण में!

फिर उसे ध्यान आया—एक जोड़ी जूते लेकर घर से आई

है। जो पिछली रात नाले के पास दलदल में धंस गये थे। दूसरा जोड़ा जूता भी न खरीद कर लाया। स्वार्थी ! मूर्ख !! ईगो-सेन्ट्रिक !! आत्मगत !!

उसने अपने कोट की जेब टटोली। रुपये उसकी जेब में थे। उसने निश्चय किया—वह उसके लिये कपड़े, साड़ियां, गाउन और जाने क्या-क्या खरीद कर ले जायगा, आज, अभी, इसी समय !

वह उन सबको देख कर आश्चर्य चकित हो उठेगी। वह अब तक मुझ में विपिन को देखती रही है। तब समझ पायेगी कि मैं और विपिन कितने भिन्न हैं ! कितने अलग-अलग !!

उसने बाजार जाकर पहिले वे बहुत-सा सामान खरीदा। दो पहाड़ी मजदूरों पर लादकर होटल की ओर आया। वह इस प्रकार छिपता-छिपता अपने कमरे की ओर आ रहा था कि साधना उसे देख न पाये।

वह साधना को 'सरप्राइज' देना चाहता था। सो चुपके-चुपके सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर गया, फिर मजदूरों को उस कोने वाले कमरे में जाने का संकेत करके चुपचाप बाहर खड़ा रहा।

तभी एक पहाड़ी ने कमरे से बाहर आकर कहा—"साब ! अन्दर कोई नहीं है। कहाँ रखूँ सामान ?"

'जरा ठहरो' कहकर वह छत की ओर साधना को देखने चला गया। ऊपर की ओर जाने वाली सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते सोचने लगा—वह उस पहाड़ी नाले की ओर देखती मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी और मैं आया हूँ इस ओर से। मुझे देख नहीं पाई होगी। हाय ! बेचारी अब भी उसी मेरे मार्ग की ओर पलकें बिछाये देख रही होगी ! हाय रे पुरुष ! पौरुष के आगार ! है कहीं ओर-छोर तेरे स्वार्थ और ओछेपन का ?

जब वह उसे उस छत पर भी न पा सका तब जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता नीचे की मंजिल में रसोईघर की ओर जाने लगा।

जाते-जाते सोचने लगा—कैसी है मेरी भी बुद्धि ! जब वह मेरे लिये मेरी रुचियों के अनुरूप भोजन बनाने के लिये खान-सामा को खड़ी आदेश दे रही होगी तब मैं उसे खोज रहा हूँ छत पर। किन्तु जब उसे वहाँ भी न पाया तो कुछ खिन्न-सा होता अपने कमरे की ओर आया।

कमरे में घुसते ही उसकी आँखें साधना को खोजने लगीं। वह कमरे में यह समझकर आया था कि शायद वह अब तक आ चुकी होगी। किसी पड़ोसी यात्री के कमरे में बैठी होगी, सो अब तक उसे आ जाना चाहिये था; किन्तु यह देखकर कि सारा कमरा खाली पड़ा है, न वहाँ उसका बक्स है और न अन्य आवश्यक सामान। केवल पलंग पर बिछौना पड़ा है।

उसे लगा जैसे काला साँप उसे सूंघ गया है। और मानों वे दीवालें घूमने लगी हैं सारी छत ऊपर से खिसकती नीचे की ओर चली आ रही थी।

वह वहीं पड़ी कुर्सी पर धम्म से बैठ गया। जिसके सामने मेज पर कल तीन शलभों का शव पड़ा था। जो शमाँ की ज्योति पर रीझ-रीझ कर मर मिटे थे।

उसे लगा जैसे वह भी शलभ है और किसी शमां की ज्योति पर उड़ते-उड़ते उसके भी पंख जल गये हैं। भस्म हो गये हैं। वह पड़ा है वहाँ—निष्प्राण ! चेतना हीन-सा !!

कुछ देर बाद कुछ चेत-सा आया। पहाड़ी मजदूरों को पैसे देकर उसने विदा कर दिया।

वह जाकर उसी बिछौने पर लेट गया जिस पर कुछ

समय पूर्व साधना के उस मधु-पारावार में डूब गया था। याद आते ही उसका रोम-रोम घृणा से भर उठा। उसे लगा जैसे उस रंगीन चादर पर खिंची वे काली रेखाएँ बेल-बूटे न होकर हैं मात्र काले संपोले ! जो किल बिला कर उसे डसने के लिये बढ़े आ रहे हैं।

वह बिछौने से उतर कर फर्श पर जा खड़ा हुआ। उसने उस चादर को उठा कर फैंक दिया। फिर खींच-खींचकर फाड़ डाला। चिंदी-चिंदी करके कमरे में बिखेर दिया।

वह किसी भी प्रकार न समझ पा रहा था कि जीवन में दो बार वह नारी द्वारा दी गई अविश्वास की चोट खा चुका था, किन्तु अब यह तीसरी बार कैसे सह सकेगा ?

वह मर्मान्तिक पीड़ा से कराहता उसी सामान पर गिर कर लोटने लगा, जिसे वह बड़ी उमंग में भरकर, अति स्नेह से एक-एक चीज निरख परख कर लाया था।

वह सामान ! साड़ियाँ, गाउन, चादरें और जाने क्या-क्या यहाँ पड़ा था। जिसमें थोड़ी ही देर पहिले भरी थी साधना के प्रति उमड़ती ममता ! गहरा स्नेह !! सो वही सामान अब उसे लगा जैसे उसे झुलसाये जा रहा है।

सामने पास ही वह कश्मीरी कालीन खुला पड़ा था। उस पर रंगीन छोटा-छोटा सा काम था।

उसे लगा जैसे वे बेल-बूटे मकड़ी के जाले हैं और वह है एक भुनगा, जो उसमें फंसा फड़फड़ा रहा है।

जिसके पंख टूट चुके हैं, जिसकी मृत्यु उसके निकट है ! अति निकट !! अति समीप !!

इन्दु

१७

दूसरे दिन जब श्रीनगर के उस हाऊसबोट में आया तो हाऊसबोट के द्वार पर बड़ा-सा हुक्का सामने रखे माँझी बैठा था। मुझे—जो नितिन है—जिसकी यह कहानी है—सो उसी को देखते ही हुक्का एक ओर सरकाता हड़बड़ाकर बोला—

"आ गये साब !"

मैं 'हूँ' कहकर चुपचाप अन्दर चला गया।

हाऊसबोट के कमरे में मेरा वह बिछौना इस प्रकार बिछा हुआ था, जैसे थोड़ी देर पहिले मैं वहाँ से उठकर गया था।

ओढ़ने का कम्बल पाँयती ओर और उसी के नीचे यथास्थान चप्पल रखे थे। सिरहाने की ओर पानी का जग और गिलास रखा था। मेरे पढ़ने की किताबें मेज पर सजी हुई रखी थीं।

माँझी ने आकर सामने की खिड़की खोल दी। दो दिन बाद वह सामने की पहाड़ी देखी थी जिसकी चोटी पर एक मन्दिर बना था।

उसे देखकर लगा जैसे यहाँ से गये मुझे कई वर्ष बीत गये हैं। सोचने लगा—इन दो दिनों ही में क्या-क्या मेरे जीवन में घटित हो गया है। जो कुछ भी हुआ था सो वही सब उसके सामने एक-एक करके आने लगा।

उसे लगा जैसे चारों ओर से अँधेरा घिरता आ रहा है। उसने उस खिड़की से बाहर देखा।

सामने मन्दिर की चोटी पर चाँद उग रहा था। चारों ओर तारे झिल-मिल कर उठे थे। उसने झील के उस पानी की ओर

देखा । वे टिमटिमाते तारे ! पानी में आ आकर तिरने लगे थे ।

दो दिन पहिले जो सितारे उसे पानी में बहते साँध्य-दीप और झील की गोदी में निखरे मणि-माणिक्य से जगमग करते दिखलाई पड़ते थे, सो वही अब उसे लग रहे थे जैसे आकाश की आँखों से टपके आँसू हैं ! जो इसी प्रकार युग-युगों से टपकते आ रहे है और वह झील है उन आँसुओं का पुंजीभूत !!

थोड़ी दूर पर खड़े वे हाउसबोट जो बिजली के प्रकाश से आलोकित हो उठे थे वे लगते थे जैसे—अग्नि-कीट !

और तभी उसने देखा पहाड़ी पर खड़े उस मन्दिर को। उसे देखते ही उसकी मुठ्ठियां बँध गई ।

सोचने लगा—कितनी बार भगवान् और भक्ति की बातें करते-करते साधना ने हाथ जोड़कर आकाश की ओर देखते-देखते अति श्रद्धापूर्वक अपने हाथ माथे से लगा लिये थे। वह श्रद्धा का प्रदर्शन था या अपने अन्दर छिपी कालिमा को छिपाने की कुटिलता !

क्या इसीलिए पहाड़ की चोटी पर यह मन्दिर बनाया गया है कि जिससे कि पहाड़ के चरणों में होने वाले पापाचार को हम मन्दिर की पवित्रता के नाम पर छिपा लें ।

मैं सोचता हूँ—यदि मानव और मानव से भरे इस विश्व में धोखा, विश्वासघात, चोरी कुटिलता का होना अनिवार्य है तो उसे हम स्वीकार क्यों नहीं कर लेते? क्यों धर्म, संस्कृति और कला की केंचुली पहिना-पहिना कर उसे छिपाते हैं ?

उसे रुपया चाहिये था तो माँग क्यों नहीं लिया ? उसे मेरे प्राण चाहियें थे तो कह क्यों नहीं दिया ! इस प्रकार मेरा सब कुछ लूट कर उसे कौन-सा सुख मिल रहा होगा ?

तभी उसे एक-एक करके उसकी बातें याद आने लगी—उस ने स्पष्ट तो कहा था—"नितिन बाबू ! घृणा आप ही से क्या घृणा मुझे मनुष्य जाति से ही है।"

विपिन बाबू की कहानी कहते-कहते उसने एक बार कहा था—"पुरुष होकर आप नहीं समझ सकते कि नारी पुरुष से जब बदला लेती है तो उस प्रकार के प्रतिशोध में उस अभागिनी को कितनी तृप्ति मिलती है।"

वह सोचने लगा—वह मुझ में विपिन को देखा करती थी सो क्या उसने विपिन द्वारा, पुरुष द्वारा नारी पर किये गये विश्वासघात का बदला ही मुझ से लिया है ?

लगा जैसे सब कुछ सुलझ गया है। मन उस हतभागिनी के साथ किये गये विश्वघात के लिये अभिभूत-सा हो उठा—

सोचने लगा—ओ रे स्वार्थी मानव ! थोड़े से रुपये और कुछ सामान ले गई तो उसे तूने इतनी बड़ी हानि मान ली कि कल से जला जा रहा है किन्तु उसने कुछ क्षणों में ही तुझे जो दिया था सो वह ?

वैसी इस जीवन में कभी तुझे हुई थी उपगति ? कल्पना भी कर सका था उस सुख की ? वह सिहरन, कम्पन और साधना के गहरे सीत्कार ! वह झुकना, खिंचना और धनुषाकार हो-हो खिंच-खिंच जाना। दो शरीरों का तनना फिर ढीला पड़ जाना—सोचते-सोचते उसे लगा जैसे बाईं ओर कुछ गिरा-सा जा रहा है।

उसे हार्ट अटेक हुआ था। एक हल्की चीख के साथ उसने अपने हाथों से ही हृदय थाम लिया। उसकी साँसें रुकने लगी। तभी उस द्वार पर उस निरपराध माँझी की लड़की का चेहरा दिखलाई पड़ा—

वह कह रही थी—

"माफ करना साब ! कुछ काम से बाहर चली गई थी। फिर उधर देखकर भयभीत-सी हो चीख पड़ी—"यह क्या हो रहा है आपको ?"

मैंने बड़ी कठिनाई से कहा—"डा······क्ट······र !"

वह वहाँ से तीर की भाँति दौड़ गई। थोड़ी ही देर में डाक्टर आया। फिर वही जो जीवन में जाने कितनी बार दुहराया जा चुका था। इंजेक्शन, दवाई, गोलियाँ, शीशियों भरा रंगीन पेय पदार्थ।

सब कोई चले गये। मैं धीरे-धीरे सो गया। जब उठा तो देखा खिड़की के सामने आकाश में वही एकाकी तारा ! जिसने एक दिन उसे भी एकाकी रहने का आदेश दिया था।

अब भी वह वहीं अकेला लटक रहा था और तब मेरी निगाह गई उस मेज के पास जिसके सहारे वह माँझी की लड़की अब भी बैठी थी—शान्त ! समाधिस्थ-सी !!

मैंने हल्की आवाज में कहा—

"पानी !"

वह पानी लाने के लिये हड़बड़ा कर उठ बैठी। मन ही मन सोच उठा—यह कौन है ? किस जन्म की परिचिता-सी ! जो बिना कुछ कहे चुपचाप इतने दिनों से मेरी सार-संभाल किये आ रही है। सो सोच-सोचकर मेरे हृदय में उसके प्रति रह-रहकर वात्सल्य-सा छलक उठा।

उसने पानी लाकर मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने पानी नहीं लिया। मैं उसकी आंखों की ओर अपलक नयनों से देखने लगा। मैंने देखा उसकी आँखें भर आई हैं। लगा जैसे यदि

थोड़ी देर और मैंने उसकी ओर देखा तो वह रो पड़ेगी। सो हाथ का पानी लेकर धीरे-धीरे मैंने दो एक घूंट पिये। जब उस गिलास को ले लेने के लिये उसने अपने वे गोरे हाथ बढ़ाये तभी मैंने उन हाथों को पकड़कर गिलास नीचे रख दिया।

उसने उन हाथों को छुड़ाने के लिए किसी भी प्रकार का प्रयास नहीं किया। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा—

"मेरी छोटी-सी बहिन! यह सब तुम क्यों किये जा रही हो?" सुनकर उसकी छलकती आँखों से आँसू बहने लगे। वह सुबकती-सी मेरी छाती में सिर झुकाये पड़ी रही।

उसके सिर को छाती से लगाकर मैं जी भर कर रोया। मुझे लगा जैसे अन्दर की धधकती ज्वालाएँ आँसू बन-बनकर बही जा रही हैं।

तभी मैंने कहा—"बहिन! मैंने कई बार सोचा कि तुम मेरी इतनी सार-सम्भाल कैसे किये जा रही हो? क्यों कर रही हो? पैसे के लिये? मात्र अपना कर्त्तव्य निभाने की बात को लेकर? जाने क्या-क्या सोचा किन्तु किसी भी प्रकार मेरा समाधान नहीं हुआ।

आज जब तुम इस हतभागे को पानी पिलाने के लिये गिलास लिये आ खड़ी हुई तब मैंने समाधान पाया तुम्हारी आँखों में।

वह स्नेह, जिसके पीछे बहिनापे की पवित्रता! पावनता-सी छलक रही थी।

उन आँखों को देखकर मुझे लगा जैसे जीवन में पहिली बार मैंने उन पुनीत आँखों को देखा है और पहिली बार किसी बहिन को छाती से लगा कर रोया हूँ।

आज तक इस रोने को, इस प्रकार आँसू बहाने को मैं अपने

पौरुष को चिनौती समझता था किन्तु आज पहिली बार अपनी बहिन को छाती से लगाकर आँसू बहाने की इस तुष्टि को समझ पा रहा हूँ।

उस प्रकार की अनुभूति का सुख आज अनुभव कर रहा हूँ जैसा कभी कण्व ऋषि ने शकुन्तला को छाती से चिपटा कर आश्रम से विदा करते समय किया होगा।

तभी उसने रुँधे कंठ से मेरी छाती में सिर दुबकाये कहा—

"झूठ क्यों बोल रहे हो, भइया! संसार में चाहे कहीं भी किसी के सामने असत्य बोल लेना पर अपनी छोटी बहिन के सामने कभी न बोलना। इससे बड़ा पाप और इस धरती पर कुछ भी नही हो सकता कि कोई भाई अपनी बहिन को बहकाने लगे।"

"मैंने तुम्हें बहकाया है?"

"बहकाया नहीं तो क्या है?"

"विश्वास नहीं होता?"

"नहीं!"

"क्यों?"

"जो बात मैंने अपनी आँखों से देखी है, जो मेरी अपनी अनुभूति है। उस पर मैं अविश्वास कैसे कर सकूंगी?"

"मैं समझा नहीं!"

"बात बहुत पुरानी है आप याद नहीं कर पायेंगे!"

"बताओ! लेकिन.........।"

"भइया! क्या इससे पूर्व आप कभी अपनी किसी छोटी बहिन को छाती से चिपका कर नहीं रोये?"

"किन्तु मेरे तो अपनी कोई बहिन है ही नहीं ! रोता कैसे ?"

"यही तो बात है। आप लोग कितनी जल्दी किसी को भी 'बहिन' कह बैठते हैं किन्तु बहिन कहते समय उसकी पवित्रता, उसके उत्तरदायित्व को निभाने की कल्पना भी करते हैं ?"

"लेकिन मैंने तो कभी किसी को 'बहिन' नहीं कहा। न 'बहिन' बनाकर उसके उत्तरदायित्व को निभाने का भार लिया।"

"आज से लगभग बारह वर्ष पहिले क्या आपने किसी आश्रम में किसी छोटी बहिन को छाती से चिपटा कर घंटों आँसू नहीं बहाये थे ?"

आश्रम का नाम लेते ही मुझे गाँधी आश्रम और लता की छोटी सहेली वह पहाड़ी लड़की इन्दु याद आगई।

माँझी •

आश्चर्य-चकित हो मैंने उस माँझी की लड़की का सिर छाती से हटाकर अपनी आँखों के सामने किया। वह आँखों की पलकें झुकाये नीचे की ओर देख रही थी। उन पलकों से टप् टप् आँसू झर उठे।

मुझे याद आया इन्दु की ठोड़ी के नीचे वाला वह बड़ा तिल! और माथे पर एक चोट का निशान! और मुँह से चीख-सी निकल पड़ी—

"इन्दु! तुम?"

कहकर मैंने उसे छाती से चिपटा लिया।

"हाँ, आश्रम की वह पहाड़ी लड़की इन्दु मैं ही हूँ भइया! जिसे एक बार पहिले भी इसी प्रकार छाती से चिपटाकर आँसू बहाये थे। और……।"

"और क्या इन्दु? कहो कहो क्या कह रही थी?"

"और जिसे थोड़े वर्षों बाद ही भूल गये।"

"और तुम?"

"मैं क्या?"

"जब तुम मुझे पहिचान गई थी तो अपने अधिकार को माँग क्यों नहीं लिया?"

"बहुत बार सोचा पर एक बात हमेशा सामने आ खड़ी होती थी।"

"क्या? कौन-सी बात?"

"यही कि यदि मैंने अपने पुराने परिचय की बात बताई तो आप समझेंगे कि दरिद्रता, दुख-दैन्य से पिसती बहिन परिचय के सहारे हाथ पसारने आई है।"

सुनकर उसकी पीठ पर कृत्रिम आक्रोश भरे दो हल्के मुक्के से लगाते बोला—"इन्दु ! तुमने मुझे इतने दिनों बाद कैसे पहिचान लिया था ?"

"भइया ! इस देश की बहिनों की आँखें अपने भाई का चेहरा जीवन में एक क्षण के लिये भी नहीं भूलतीं। सो आपको देखते ही मैं जान गई थी कि आश्रम के उस अँधेरे कमरे में अकेले पड़े रहने वाले मेरे भइया अब पिताजी के इस हाऊसबोट में भटकते-भटकते आ पड़े हैं।"

सुनकर मैं बैठ गया। इन्दु को पास ही बिठाकर उसके उस चेहरे की ओर देखने लगा, जो अब दीप्त-सा हो उठा था।

उसे देखते-देखते मैं बोला—"तो तुम्हारे पिताजी माँझी का काम क्यों करते हैं ?"

"क्यों करते हैं ? करें नहीं तो माँ, भाई-बहिनों के पेट की आग कौन बुझाये ? कैसे बुझे वह आग जिसको बुझाने के लिये लोग जाने कितने अच्छे-बुरे काम करते हैं, किन्तु मेरे बापू तो पसीने की कमाई खाते हैं। आप क्या उस कमाई को बुरा मानते हैं ?"

"बुरा तो मानता ही हूँ। माँझीपने का काम कोई प्रतिष्ठा का काम तो है नहीं !"

"वाह भइया ! ये जो आप पर शताब्दियों तक राज्य करके चले गये सो वे क्या थे ? माँझी नहीं थे ? मेरे पिताजी आजादी की लड़ाई में जब सब कुछ गंवा बैठे तब इसके सिवाय और करते भी क्या ?"

सुनकर मैं उस लड़की के चेहरे की ओर झेंपता-सा देखने लगा, जिसने आश्रम में भी दूध के गिलास की बात को लेकर और जाने कैसे-कैसे कितनी ही बार मुझे झेंपाया था।

मैंने स्नेहातुर हो उसे अपनी ओर खींच कर उसका सिर अपने बायें कंधे से चिपटा लिया और बोला—

"इन्दु ! आज मुझे सब कुछ मिल गया। लगता है मैंने आज इन क्षणों में सब कुछ खोकर सब कुछ पा लिया है।"

तभी एक रोष भरा कड़कता स्वर सुन पड़ा—"इन्दु !"

और सुनते ही इन्दु चौंक-सी पड़ी। वह वृद्ध पिता माँझी आँखों-से ज्वाला-सी फैंकता बोला—

"तो इसीलिये तू यहाँ........।"

"बापू !"

इन्दु अपनी समूची शक्ति से चीख पड़ी।

तभी उठकर मैंने अपने पुराने माँझी और उन क्षणों के अपनी बहिन के बापू के चरणों में सिर टेक कर उनकी पग-धूलि ली। फिर उठकर उनका हाथ अपने माथे पर रखकर कहा—

"आशीर्वाद दीजिये बापू ! अपने इस नये बेटे को। इन्दु को आज से बारह वर्ष पूर्व मैंने अपनी बहिन बना लिया था।" सुनकर इन्दु के वे बापू किं कर्त्तव्यविमूढ़ से वहीं खड़े रह गये। धीरे-धीरे उनकी आँखें छलछला आईं और फिर उस काश्मीरी वृद्ध पिता की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह उठी।

मैं उन्हें अति आदर से खींच कर अपने पलंग पर बिठाने लगा किन्तु वे कुछ झिझकने से लगे। तभी मैंने उनके कंधे पर हाथ रख कर कहा—

"बापू ! लगता है अभी तक आप अपने इस बेटे को क्षमा नहीं कर सके हैं !"

तब बिछौने पर बैठते-बैठते वे बोले—बेटा ! जैसा भाव मेरे मन में तुम भाई-बहिनों के लिये आज आया था सो लगता है मेरे अन्तर्यामी उसे कभी भी क्षमा न कर सकेंगे।" कहकर खिड़की से दिखते उस मंदिर की ओर शून्य-दृष्टि से देखते-देखते उन्होंने अपने दोनों हाथ उठा कर मस्तक से लगा लिये।

जीवन सूत्र •

१६

पिछली रात मैं बहुत रात तक जागता रहा था सो जब उठा तब चारों ओर धूप फैल गई थी।

मैंने देखा आज इन्दु अपने पुराने स्थान को छोड़कर चारपाई के पास पड़ी कुर्सी पर बैठी उसी की ओर देख रही थी।

जब मैं जागा तो गर्म पानी ले आई। मैं नित्य-कर्म से निवट कर जब आ बैठा तब बोली, "भइया! बापू कह रहे थे कि आप जिस स्त्री के साथ पहलगाँव गये थे, वह भले घर की नहीं है।"

"भले घर की न हो इन्दु! पर मुझे उसने जो दिया है उसका मूल्य जीवन भर में उसे नहीं चुका सकता।"

हँसती-सी बोली—

"सुना है बक्स, बिस्तरा, रुपया-पैसा सब कुछ उसी को देकर खाली हाथ लौटे हैं। सो क्या उससे भी अधिक कुछ चुकाना है उसे? न हो तो यह अपना हाऊसबोट भी बेचकर उसे चुका दिया जाये।"

सुनकर नितिन गंभीर-सा हो गया। उसके मुँह पर ऐसी गहरी उदासी छा गई जिसे देखकर इन्दु घबरा-सी गई। पास आकर बिछौने पर बैठ गई और बोली—

"भइया! क्या भगवान ने आपको इसीलिये इस धरती पर भेजा है कि दिन रात इसी तरह ठगाये जाओ और उन ठगने वालों पर रोष भी न कर सको। लता जीजी से भी तो आप कुछ भी नहीं कह सके थे।"

"ऐसा मत कहो इन्दु ! इस इतनी बड़ी दुनिया में कोई बुरा नहीं है। कोई किसी को धोखा नहीं देता, कोई किसी को नहीं ठगता।"

"तो क्या अच्छा बुरा जैसा कहने लायक इस दुनिया में कुछ है ही नहीं भइया !"

"हाँ इन्दु ! अच्छा बुरा कुछ भी नहीं है। जो कुछ मानव करता है सब परिस्थिति वश। चोरी करके अपने हृदय के टुकड़े—भूख से बिलखते बालक के पेट की आग बुझाना क्या पाप है ? तुम उसे पाप कहोगी इन्दु ?

"..................."

"बोलो इन्दु !"

"भइया ! इस तरह मैंने कभी सोचा ही नहीं।"

"तो इन्दु ! वह मुझे ऐसा ही एक नया जीवन-सूत्र देकर अचानक चली गई है। पता नहीं अब उसे कभी देख भी सकूंगा।"

"हुआ क्या था भइया ! कुछ मुझे भी तो बताइये।"

"इन्दु ! जीवन में उसे कभी किसी विपिन नाम के युवक ने धोखा दिया था। विश्वासघात किया था। उस एक चोट को बेचारी किसी भी प्रकार न सह पाई। तभी से लगता है जैसे वह अपने उसी विश्वासघात का बदला लेती आ रही है। और लगता है कि ऐसा बदला मेरे अतिरिक्त वह बहुतों से ले चुकी होगी किन्तु उसके प्रतिशोध की वह सर्वहारा भूख बुझती ही नहीं !"

"तो इस घटना से उस सत्य की प्राप्ति आपको कैसे हो गई ?"

"इन्दु ! पहिले तो मैं भी ठीक तुम्हारी ही भाँति सोच-सोच कर छटपटाता रहा, सिर पटकता रहा किन्तु अचानक मेरे मन में

एक बात बिजली की भान्ति कौंध गई कि यदि उस साधना को जीवन में धोखा न दिया जाता, उसका जीवन उस विशेष परिस्थिति में न पड़ा होता तो इन्दु ! वह प्रतिशोध की आग में दिन रात जलने वाली मानवी न होकर कुछ और ही होती।

जिसकी झलक मैंने उन दो दिनों में देखी थी। सो वह जाने कितने मानवों का निर्माण करती, जाने कितनों की प्रेरक शक्ति होती, न जाने कितने अभागों, ठोकर खाये हुये प्राणियों को, दुर्भाग्य की कालिमा से पुते मस्तकों को, अपने स्नेह के पारस-स्पर्श से उन्हें सुनहली आभा देकर दीप्त कर देती !"

"भइया ! मैं नहीं समझ पाती आपकी इन बातों को।"

"इन्दु ! भगवान् ने जैसा सरल हृदय देकर तुम्हें सिरजा है सो तुम्हें समझते देर नहीं लगेगी बहिन ! समझने का प्रयत्न करो। मैं तुमसे सीधी बात पूछता हूँ।"

"पूछिये।"

"तुम यह बताओ कि विधवा होना क्या किसी लड़की का दोष है ?"

"नहीं तो।"

"तो उसे वैधव्य का दुख उस अभागिनी को क्यों भोगना पड़ता है ? और जन्म से गरीबी की आग में जलती झोंपड़ी में जन्म लेना क्या उस अबोध शिशु का अपराध है ?"

"नहीं ! भइया।"

"तो जीवन भर वह क्यों उस गरीबी की आग में जलता रहता है ?" काश्मीर के इस सौन्दर्य के पीछे कितने ऐसे ही निरपराध शिशु कलियों की भाँति विना विकसित हुये ही झर पड़ते हैं सो जानती हो ?"

"सच, ऐसे तो मैंने कभी सोचा ही नहीं।"

"तो यही तो मैं कहता हूँ कि इन्दु ! उस साधना ने दो ही

दिनों में मुझे कितना सुख ! कितनी तृप्ति, कितना गहरा स्नेह देकर कैसे-कैसे नये पाठ पढ़ा दिये थे।

मैं सोचता हूँ कि जिसके हृदय में मेरे लिये ऐसी ममता, ऐसा ममत्व था सो वह मुझे धोखा कैसे दे सकी ?

इतना गहरा स्नेह देकर भी जिसने धोखा दिया है सो वैसा करने के लिये उसके मन में उससे भी अधिक पुरुष जाति के लिये घृणा रही होगी तभी तो वह वैसा कर सकी।

उस घृणा के लिए हम साधना को किसी भी प्रकार दोषी नहीं ठहरा सकते।"

"फिर कौन है दोषी ?"

"दोष है उस परिस्थिति का जिसके गर्भ में वह अभागी जा पड़ी है और वह परिस्थिति बनाई है विपिन बाबू ने !"

"और विपिन बाबू की उस परिस्थिति का कारण आप किसी और को खोज निकालेंगे, हैं न भइया ?"

"हाँ, यह तो है ही।"

"तब आपकी दृष्टि से न्याय करने वाली संस्थायें, कचहरी, पंचायतें सब व्यर्थ ही हैं ? कैसी बातें कर रहे हैं आप !"

"इन्दु ! व्यर्थ है या नहीं, यह उत्तर तुम्हें पूंजीवादी देशों में बढ़ते अपराधों की तालिका से सहज ही में लग जायगा। यदि अपराधों का इलाज ये जेल, कचहरी, पंचायतें होतीं, तो ये अपराधों की संख्या बढ़ती क्यों ?

इन्दु ! जब तक मानव-जाति इन अपराधों के मूल कारणों को खोज नहीं निकालती तब तक यही होगा। ऐसा ही होगा।"

"भइया ! इस तरह सोचने वाले आप ही अनोखे हैं या और भी कोई ?"

"पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध खड़े होने वाला प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक राष्ट्र ठीक इसी भाँति सोच रहा है जैसे मैं सोच रहा हूँ। और इन्दु ! इस प्रकार सोचने वालों की संख्या ही अब इस संसार में अधिक है।"

सुनकर लगा जैसे इन्दु को किसी भी प्रकार मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा है या वह समझ नहीं पा रही है।

O wearly hearts! O slumbering eyes!
O drooping souls, whose destinies
Are fraught with fear and pain,
Ye shall be loved again.

—Longfellow

वे क्षण •

२०

उस दिन मैं चुपचाप निर्जीव-सा बिछौने पर पड़ा रहा। इन्दु, उसके पिताजी सभी मनाते रहे पर एक ग्रास भी कण्ठ के नीचे उतारने के लिये तय्यार नहीं हो सका।

पता नहीं अर्ध-उन्मीलित आंखों से खिड़की के उस पार दिखने वाली पहाड़ियों में ऐसा क्या कुछ खोज रहा था, जिसे खोजते-खोजते मैं थकता नहीं था।

क्या था वह ? मैं स्वयं ही न समझ पा रहा था किन्तु उन पहाड़ियों पर तैरते बादलों में ऐसा डूबा कि संध्या के धुंधले प्रकाश में जब कुछ सूझ ही न पड़ा तब मैंने उस ओर से अपनी आँखें हटालीं।

उस तरफ देखते-देखते आँखें दुखने लगी थीं। मैंने अपनी हथेलियाँ आँखों पर रख लीं। वैसे करना बहुत अच्छा लग रहा था आँखों पर हथेलियाँ रखे चुपचाप लेटा था।

तभी इन्दु का कंठ-स्वर सुनाई पड़ा। वह पास आई और सिर पर हाथ रखकर बोली—"अब कैसी तबियत है भइया !"

"ठीक हूँ।"

"मैं काम-काज से बाजार गई थी। पीछे पोस्टमैन आपके नाम का यह पैकट दे गया है।"

मैंने समझा प्रकाशक द्वारा भेजे गये मेरी नई किताब के प्रूफ होंगे सो आंखें बन्द किये ही मैंने कह दिया—

"उस मेज पर रख दो इन्दु !"

इन्दु उस पैकट को मेज पर रखकर बोली—"भइया ! आप बहिन के घर में सुबह से भूखे पड़े हैं सो अब कहे देती हूँ कि मैं उतनी भली नहीं हूँ जो किसी के लिये इतने बड़े पाप का बोझ लादूँ।

चाहे आप का मन हो या न हो खाना आपको खाना पड़ेगा। इस बात में कुछ भी इधर-उधर न कर पाओगे सो मैं कहे जाती हूँ।" कहते-कहते वह चली गई।

कुछ देर मैं उसी प्रकार तन्द्रिल-सा लेटा रहा फिर मेज पर पड़े उस पैकट को लेटे-लेटे ही देखा। देखकर लगा कि प्रूफ का लिफाफा—ऊपर का वह कागज हमेशा एक विशेष प्रकार का होता था। सोचने लगा—इतने सुन्दर पैकेट में चाहे और कुछ भी हो प्रकाशक द्वारा भेजा गया प्रूफ नहीं हो सकता।

मैंने उठकर उस पैकेट को खोला—दो मोटे गत्तों के बीच एक चित्र रखा था और साथ ही थी एक चिट्ठी।

आँखों की पुतलियाँ उस चित्र पर इधर-उधर नृत्य-सी करती घूमने लगीं।

सोचने लगा—जीवन में जाने कितनी अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय आर्ट एक्जीवीशन देखी थीं। विश्व के महान् चित्रकारों के सम्पर्क में रहा हूँ; किन्तु कभी भी ऐसा सुन्दर मोहक एवं सप्राण चित्र मैंने जीवन में कभी भी न देखा।

साधारण रंगों के मेल से जिस प्रकार उस चित्र में प्राण फूँके गये थे, जैसी अलौकिकता उसे दी गई थी सो देखकर मेरी आँखें खुली की खुली रह गईं। मैं मुँह फाड़े उस चित्र को उलट पलट कर देखने लगा। यह जानने के लिये कि उसे भेजने वाला वह महान कलाकार कौन है ?

उसके एक कोने पर छोटे-छोटे अक्षरों में लिखा था—

"वे क्षण !"

और उसी चित्र के दूसरे कोने पर लिखा था—

"उन क्षणों के सहभोक्ता को"

पढ़कर यह समझते देर नहीं लगी कि उस चित्र को किन अँगुलियों ने किस प्रकार डूबकर उन रंगों में अपनी आत्मा को उतारा है।

चित्र को देखकर मुझे लगा जैसे जिस बात को मैं सुबह से नहीं समझ पा रहा था सो उसे देखते ही निमिष मात्र में मेरे सामने सब कुछ स्पष्ट हो गया है।

श्रीनगर की उन पहाड़ियों को अपनी बाहों में समेटे बादलों के उस पुंजीभूत को देख-देखकर मुझे सवेरे से पहलगाँव की वे पहाड़ियां याद आ रही थीं जिन्हें धीरे-धीरे उस सफेद तरल खिसकते बादलों ने उन क्षणों में अपने में समा लिया था, और तब प्रकृति के उस व्यापार को देखकर, हम दोनों के शरीर तन उठे थे।

मैंने ठीक उस बादल की भाँति ही साधना को खोंचकर अपने में डुबो लिया था और आनन्दातिरेक से हम दोनों कांप उठे थे। फिर गहरी निश्वासें ! सिसकते सीत्कार ! और.........

सो उन्हीं क्षणों को लौटा लाने, उन्हें अतीत के गर्त्त से खींच लेने के लिये ही मैं दिन भर तड़पता रहा था। पर कौन लौटा पाया है बीते क्षणों को ?

उस चित्र को देखकर मुझे लगा कि मानव में बैठा कलाकार अपने सिरजनहार से भी ऊँचा उठ गया है।

ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना की किन्तु वह उसे अमरता न दे सका और वह दे पाता है मानव-कलाकार !

जो क्षण मिट चुके थे, बीत चुके थे उन्हीं क्षणों को साधना ने अपनी तूलिका और रंगों के सहारे बाँध लिया था।

साधना ने हमारे मिलन के उन क्षणों को जिस प्रकार अमरता दी थी सो उसे देख-देखकर मेरे प्राण खिंच उठे। आँखें भर-भर आती थीं।

मुझे याद आया—उसने एक दिन कहा था कि वह शान्ति-निकेतन में इसी कला की पाँच वर्ष तक आराधना करती रही थी।

उसे लगा जैसे अब अपने एकाकी जीवन को बिताने का सहारा वह पा गया है। चित्रके सहारे वह जी सकेगा—वह चित्र! जिसमें साकार हो उठे—"मिलन के वे क्षण!"

रजनी गन्धा •

२१

जितना ही वह उस चित्र को देखता था उतना ही वह सप्राण होता जा रहा था। उसे लगा जैसे प्रतिक्षण कुछ न कुछ नया-सा उसमें फूटता आ रहा है।

वह अचरज के मारे डूब गया कि इतनी बड़ी बात अभी तक वह इस चित्र में क्यों नहीं देख पाया ? क्यों वह उस पहाड़ी पर तैरते बादलों के रंगों में ही अब तक डूबा रहा।

उसने देखा पहाड़ी और उस पर तैरते बादल में उसकी तूलिका ने मानवात्माओं को आरोपित (Personified) किया था। प्रकृति-पुरुष, नर-नारी के मिलन को उस बादल और पहाड़ी के माध्यम से जिस प्रकार चित्रित किया गया था, उसे देखकर लगा जैसे विश्व का महान चित्र उन क्षणों में उसके हाथ में था; जिसे किसी ऐसी नारी ने भेजा है, जो मिलन के उन क्षणों की स्वयं सहभोक्ता है !

इस एक कल्पना मात्र से ही वह सिहर उठा। उसे लगा जैसे वह अचेत-सा होता जा रहा है।

तभी हाथ से उसके लिये भेजी गई वह चिट्ठी नीचे खिसक पड़ी।

नितिन !—जो मैं हूँ—सो वही उस चित्र में ऐसा डूबा कि उसे उस पत्र का तब ध्यान आया जब हाथ से खिसककर नीचे जा पड़ा। उसने उसे अति आतुरता से उठा लिया। लिफाफा खोलकर पढ़ने लगा।—

प्रियतम !

'प्रियतम' मैंने इसीलिये लिखा है कि इन क्षणों में तुम मुझे प्रियतम ही लग रहे हो। यही मैं मान रही हूँ। लाख सिर पटकने पर भी मुझे यही मानना पड़ रहा है।

नहीं जानती उस दिन जब सब कुछ लेकर बिना कहे सुने चली आई थी, तब आपको कैसे लगा होगा। मैंने यह सब किया था प्रतिपल, प्रतिक्षण अपने अन्तस्थल में जलने वाली तीखी घृणा, अपनी उस अन्तर्ज्वाला को बुझाने के लिये।

किन्तु नितिन बाबू ! अब लगता है जैसे आग को बुझाने के लिये उसमें ठंडा पेट्रौल फैंक देने की जैसी भूल मुझसे हो गई है। विपिन बाबू द्वारा ठगी जाने पर हृदय में जो अँगारे धधक उठे थे, आपको ठग कर लगता है जैसे वही अँगारे अब मुझे ही भस्म कर डालगे।

नितिनबाबू ! याद होगा मैंने तुम्हें एक दिन 'धरती के देवता' कहा था और एक बार यह भी कहा था कि—"चाहे कोई कितनी ही बार आपको धोखा दे ले, अन्त में जीत आपकी ही होगी।"

आप सोचते होंगे कि ये सब बातें मैंने आपको अपने जाल में फंसाने के लिये ही कही होंगी। नितिन बाबू ! आप मुझ पर चाहे कितना ही अविश्वास कर लें, किन्तु मेरी इस बात पर कभी अविश्वास न करना। ये बातें मेरे अन्तर को चीरकर निकली थीं और ऐसा जो मानव के अन्तस्तल को चीरकर निकलता है वह होता है—सत्य, शाश्वत सत्य !! सनातन सत्य !!

हाय रे दुर्भाग्य ! मैं अपने मुँह से निकले इसी सत्य पर विश्वास न कर सकी। यदि वैसा कर पाती तो अपने उन क्षणों को अपने जीवन में ही शाश्वत न बना लेती ! और आज अपने मिलन के उन क्षणों को स्थायित्व देने का अवसर मैंने स्वतः खो दिया है।

जीवन में जाने कितनी बार 'पुरुष' को इसी प्रकार मैंने ठगा है फिर उसे छटपटाते देखा है। ठीक उसी प्रकार जैसे जाल में फँसे, छटपटाते कीट को पास ही बैठकर मकड़ी देखा करती है।

किन्तु नितिन बाबू! मुझ मकड़ी के जाल में अचानक ऐसा कीड़ा आ फँसा या मैंने फँसा लिया कि वह मेरे जाल को तोड़कर मुझे ही उल्टा ग्रसे जा रहा है।

नितिन बाबू! आज मैं मृत्यु के अति निकट आ बैठी हूँ। लगता है जैसे मृत्यु की वे विषैली ज्वालायें! जलती निश्वासें, मेरे गालों को छू-छूकर झुलसा जाती हैं और मैं तड़प उठती हूँ।

विपिन—जिसे मैं देवता मानती थी। जब वही देव से दानव बनकर मुझे कुचल गया। मेरा सब कुछ नोच कर ले गया। तब से नितिन बाबू! संसार में फैले अंधकार को ही मैं देख पाती थी, प्रकाश मुझ से दूर चला गया था।

दुर्गन्ध मैं सूंघ पाती थी और सुगन्ध से मैंने नाता तोड़ लिया था। संसार में जिसे 'असत्' कहा गया है उसे ही मैंने अपना साथी बनाया और 'सत्' को मैं भूल गई।

इस प्रकार आज तक जिस कीचड़ को मैं संचित करती आ रही हूँ, उसमें अब कीड़े बिज-बिजा उठे हैं। उसकी सड़ाँद से मेरी साँस रुकी जा रही है।

किन्तु नितिन बाबू! यह सोच-सोचकर मैं मरी जाती हूँ कि जिस कीचड़ में मैं वर्षों से दबी आ रही थी, सो अब तक उन कीड़ों के दंश का अनुभव क्यों नहीं कर पाती थी जो आज मेरा तिल-तिल, नोंच-नोंच कर खाये जाये जा रहे हैं।

आज तक उस दुर्गन्ध को मैं क्यों न जान पाई, जो लगता है आज मेरे प्राण लेकर ही छोड़ेगी ?

तब मुझे लगता है कि जैसे अब तक मैं भी कीचड़ का कीट थी, जिसे वे साथी कीट अपने वर्ग को समझकर नोंच नहीं पाते थे। न वहाँ मुझे वैसी दुर्गन्ध ही आती थी क्योंकि मैं बनी थी उसी कीचड़ से, जीती थी उसी सड़ाँद को अपनी साँसों में भर-भरकर।

जिन क्षणों को मैंने अपनी रेखाओं में बाँधकर आपके पास भेजा है, नितिन बाबू ! उन क्षणों में किसी के द्वारा छू देने मात्र से ही मैं कुछ की कुछ हो उठी हूँ। जैसे काली घिनौनी लोहे की शलाका पारस को छूकर सुनहली आभा से दीप्त हो उठती है।

मेरे महाराजा ! तुमने मुझे प्रकाश-अँधकार, सुगन्ध-दुर्गन्ध में अन्तर करना सिखाया, कीट का जीवन बिताने वाली को उससे ऊपर उठने की प्रेरणा दी ! सो अब किस मुँह से कहूँ कि अपने उसी वरदहस्त के सहारे इस कीचड़ से मुझे उबार लो ! उठा लो !!

इस सड़ाँद से, उन साथी-संगी कीड़ों के विषैले दंशनों से मैं छटपटा रही हूँ। अब मैं एक पल भी जीवित नहीं रहना चाहती। इन क्षणों में मैं सोच रही हूँ—ऐसा कुछ ! जिसके सहारे मैं अपने इस पाप भरे जीवन का अन्त कर लूँ।

मैं यह नहीं कहती, क्योंकि ऐसा मानती भी नहीं कि आप मुझे क्षमा नहीं कर सकते। उन दो दिनों में जितना भी मैं आपको समझ पाई हूँ। उसी ज्ञान के सहारे मैं सोच रही हूँ कि अब तक आप मेरे अपराध को भूल चुके होंगे। किन्तु नितिन बाबू ! क्या करूँ ? मैं तो अपने आपको किसी भी प्रकार क्षमा नहीं कर पातीं !

वे क्षण ! जिनमें, जो कुछ मैंने आपसे पाया है, उसी की मधुर

स्मृति लिये मैं मृत्यु की दारुण यंत्रणा, उन वृश्चिक-दंशनों की पीड़ा को सहार पाऊँगी।

मैं नहीं चाहती कि अब आप मुझ हतभागिनी की उन आँखों को देखें, जो जीवन भर अपने में विषैला उन्माद और वासना की ज्वालायें भर-भर कर सीधे सादे भावुक प्राणियों को जला-जलाकर तड़पाती रही हैं। इसीलिये अपना पता मैं नहीं लिख रही हूँ।

नितिन बाबू! कीचड़ अपनी समूची सड़ाँद और घिनौनेपन को लेकर संसार को देती है—रूप, गन्धमय शतदल कमल को! सो उसी प्रकार अपने समूचे घिनौने जीवन को बिताकर आपको दे रही हूँ अपनी अंतिम कृति—

'वे क्षण!'

अति पावन। अति पुनीत!!

मैं जानती हूँ कि आप उसे सजाकर रखेंगे, अपने जीवन की अति मूल्यवान निधि मानकर! क्यों है न ऐसा ही?

ओ मेरे मन के राजा! मैं उन्हीं चरणों में अपना प्रणाम भेज रही हूँ। जिनपर अपना माथा टेककर इन प्राणों को त्यागने का सौभाग्य भी न पा सकी। —तुम्हारी अपनी ही।

(साधना)

उस पत्र को पढ़कर उसे लगा जैसे वह गिरा जा रहा है। जैसे उसके अन्दर ही अन्दर कुछ टूटता जा रहा है। किन्तु नहीं! नहीं!! वह उस पुराने रोग को अपनी समूची आत्म-शक्ति से रोक लेगा।

हार्ट अटैक होता है मनुष्य की आत्मघाती प्रकृति का सहारा लेकर। उसे जीवित रहना है। साधना भी जीवित रहेगी। कोई भी शक्ति उससे साधना को छीन न सकेगी। भगवान्! इस विश्व का स्रष्टा वह जगत-नियन्ता भी!

ऐसी आत्मा ऐसा घृणित जीवन बिताते नहीं मिटेगी ! नहीं ! नहीं !!

कहता-कहता वह चीखने लगा—

"इन्दु ! इन्दु !!"

इन्दु उस चीत्कार को सुनकर दौड़ी आई।

वह बिछौने पर पड़ा छटपटाता-सा बोला—"इन्दु। साधना की चिट्ठी आई है। लगता है वह आत्मघात करेगी। किन्तु……… किन्तु………… इन्दु……… उसने अपना पता नहीं लिखा।……… पता…… पता……… नहीं लिखा……… क्या करूं………… इन्दु………… उसे…… बचाना होगा…… बचाकर छोड़ूंगा। मैं…… मौत से भी उसे…… छीन सकता…… हूँ… पर वह…… है…… कहाँ ? कहाँ…… पाऊँ उसे इन्दु ?"………

वह प्रलाप किये जा रहा था। बीच में इन्दु हाउसबोट के उस कमरे से घबराती-सी भाग गई।

फिर हाँफती-सी लौटी। उसके पीछे थे इन्दु के बाबू ! नितिन का पुराना माँझी !!

बापू रुँधे कंठ से साँस रोकते बोले—बेटा ! मैं उसका पता जानता हूँ ! एक बार किसी रियासत के राजा को उसके यहाँ तक पहुँचा आया था।

पता नहीं कहाँ से उन बूढ़े हाथों में इतनी गति आगई कि निमिष मात्र में वे बूढ़े हाथ उस खुली नौका को छोड़कर हाउस-बोट की सीढ़ियों के पास ले आये और वे वृद्ध बापू बोले—

"बैठो बेटा !"

मैं नाव में जा बैठा और उस झील की छाती को चीरती नाव छपछपाती दौड़ने लगी। नाव दौड़ी जा रही थी और हाउस-

बोट की उन सीढ़ियों पर खड़ी इन्दु उस दौड़ती नाव के टिम-टिमाते प्रकाश को छलछलाती आंखों से देख रही थी।

लगता था जैसे बहिन अपने भइया की मंगल-कामना करती अपने अन्तर्यामी से कह रही थी—"हे भगवान्! चाहे किसी को तू कितना ही बड़ा दण्ड दे लेना पर किसी मानव के मन में किसी के प्रति ऐसा ममत्व न जगाना!"

और वह नाव तारों की छाँह में उस कश्मीरी डल झील की छाती चीरती दौड़ी जा रही थी।

नाव के पिछले भाग में बैठा था मैं जिसका वहाँ शरीर था और प्राण उड़ गये थे किसी की खोज में!

आसमान में चमकते वे आकाश-दीप, मंदिर के पीछे उगता चाँद, झील में बिखरे वे साँध्यदीप और जगमगाते मणिमाणिक्य जैसे सब कुछ अनस्तित्व के बराबर में खा गये हैं। उसे कुछ भी नहीं सूझ रहा था।

उसे लग रहा था जैसे वह असीम शून्य आकाश केवल किसी के मुख से निकले गीत की एक तान मात्र से मुखरित हो उठा है! रजनी गंधा के उड़ते मधु-पराग से भर उठा है!!

वह सुन रहा था—

बेला के खिंचे स्वर-सा मर्मभेदी चीत्कार! बरसाती अंधियारी में दूर निर्जन पहाड़ी से आती किसी विरहणी की व्यथा-भरी पुकार—

'हेरी मैं तो प्रेम दिवानी,
मेरा दर्द न जाने कोय।'

और शिकारे के छोर पर रखी लालटेन के धुँधले प्रकाश में वह नाव छपछपाती तीर की भांति झील की छाती चीरती दौड़ी जा रही थी।